लेखक की अन्य कृतियाँ

- भारतीय अर्थनीति—विकास की एक दिशा
- सम्राट् चन्द्रगुप्त
- जगद्गुरु शंकराचार्य
- राष्ट्र जीवन की दिशा
- राष्ट्र चिन्तन
- अखण्ड भारत और मुस्लिम समस्या
- स्वतंत्रता की साधना और सिद्धि
- हिन्दू संस्कृति की विशेषता

- The Two Plans
- Political Diary
- Devaluation
- Integral Humanism

एकात्म मानववाद

दीनदयाल उपाध्याय

जागृति प्रकाशन , नोएडा–२०१३०१

अंतरराष्ट्रीय मानक पुस्तक संख्या

ISBN : 8186719-29-6

प्रकाशक
जागृति प्रकाशन
एफ-१०६, सेक्टर-२७,
नोएडा-२०१३०१
दूरभाष : ०१२०-२५३८१०१

नवम् संस्करण : युगाब्द ५१०६, विक्रमाब्द २०६१, सन् २००४

मूल्य : २०.००

मुद्रक : नीति प्रिंटिंग सर्विस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

EKATMA MANAVAVAD (Hindi)
By Deendayal Upadhyay Rs. 20.00

प्रकाशकीय

पं० दीनदयाल उपाध्याय उन आदर्श पुरुषों में से एक थे जिन्होंने शुक्र, बृहस्पति और चाणक्य की भाँति आधुनिक राजनीति को शुचि और शुद्धता के धरातल पर खड़ा करने की प्रेरणा दी। वे जन्मतः नहीं कर्मतः महान थे। उनकी इस महानता को उनकी मृत्यु के उपरान्त समर्थकों और विरोधियों दोनों ने समान रूप से स्वीकार किया। प्रजा समाजवादी नेता श्री नाथ पै ने उन्हें गान्धी, तिलक और सुभाष बोस की परम्परा की 'एक कड़ी' बताया। साम्यवादी नेता श्री हीरेन मुखर्जी ने उन्हें 'अजात शत्रु' की संज्ञा दी और आचार्य कृपलानी ने उन्हें 'दैवी सम्पदा' की उपमा दी।

श्री उपाध्याय मूल विचारक थे। युवावस्था में ही उनकी प्रगल्भ बुद्धि 'व्यक्ति और समाज', 'स्वदेश और स्वधर्म', 'परम्परा तथा संस्कृति' जैसे गूढ़ विषयों की ओर आकृष्ट हो चुकी थी। अतः इन विषयों का उन्होंने गहन अध्ययन किया, चिन्तन और मनन किया। परिणामस्वरूप वे उस प्राचीन मनीषा के आधुनिक व्याख्याकार के रूप में उभरे, जिसने भारतीय समाज को स्वाभाविक रूप में प्रकट होने वाले विभिन्न अन्तर्विरोधों पर विजय पाने की योग्यता प्रदान की।

वर्षों तक भारतीय जनसंघ के महामन्त्री और अन्त में अध्यक्ष रहने के बावजूद वे दलगत राजनीति और सत्ता राजनीति से ऊपर रहे। वास्तव में वे एक ऐसे राजनीतिक दर्शन को विकसित करना चाहते थे जो भारत की प्रकृति और परम्परा के अनुकूल हो और राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति करने में समर्थ हो। अपने इस दर्शन को उन्होंने नाम दिया—'एकात्म मानववाद'।

'एकात्म मानववाद' सर्वप्रथम १९६४ में जनसंघ के ग्वालियर अधिवेशन में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया और अगले ही वर्ष १९६५ के विजयवाड़ा अधिवेशन में स्वीकार कर लिया गया। अप्रैल, १९६५ में पूना में एक चतुर्दिवसीय भाषणमाला का आयोजन किया गया, जिसमें दीनदयाल जी ने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया। २२, २३, २४ और २५ अप्रैल १९६५ को हुए इन्हीं भाषणों का संकलन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण भारतीय जनसंघ, केन्द्रीय कार्यालय, नई दिल्ली द्वारा १९६८ में प्रकाशित किया गया था। उसके बाद जल्दी-जल्दी तीन संस्करण और हुए। चतुर्थ और अन्तिम संस्करण १९७२ में हुआ था। किन्तु पांचवां संस्करण ठीक चौदह वर्ष बाद प्रकाशित हो पाया।

इस ग्रन्थ के माध्यम से दीनदयाल जी की विचार-निधि जन-सामान्य के पास पहुँच पायी तो हम अपने प्रयास को सफल मानेंगे।

अनुक्रम

१.	राष्ट्रवाद की सही कल्पना	९
२.	एकात्म मानववाद	२१
३.	व्यष्टि, समष्टि में समरसता	३८
४.	राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थ-रचना	६५
	शब्दानुक्रम	८५

१

राष्ट्रवाद की सही कल्पना

अंग्रेजों के शासनकाल में देश में जितने भी आन्दोलन चले और देश की जितनी भी राजनीति थी, उन सबका एक ही लक्ष्य था कि अंग्रेजों को हटाकर हम स्वराज्य प्राप्त करें। स्वराज्य के बाद हमारा रूप क्या होगा? हम किस दिशा में आगे बढ़ेंगे? इसका बहुत कुछ विचार नहीं हुआ था। 'बहुत कुछ' शब्द का मैंने प्रयोग इसलिए किया है कि 'बिलकुल विचार नहीं हुआ था' यह कहना ठीक न होगा। ऐसे लोग थे कि जिन्होंने उस समय भी बहुत-सी बातों पर विचार किया था। स्वयं गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज्य' लिखकर उसमें 'स्वराज्य' आने के बाद भारत का चित्र क्या होगा, इस पर अपने विचार रखे थे। उसके पहले लोकमान्य तिलक ने भी 'गीता रहस्य' लिखकर सम्पूर्ण आन्दोलन के पीछे की तात्त्विक भूमिका क्या होगी, इसका विवेचन किया था। साथ ही उस समय दुनिया में जो भिन्न-भिन्न विचार-सरणियाँ चल रही थीं, उनकी भी तुलनात्मक दृष्टि से आलोचना की थी।

इसके अतिरिक्त समय-समय पर कांग्रेस या दूसरे राजनैतिक दलों ने

जो प्रस्ताव स्वीकार किये, उनमें भी ये विचार आये थे। किन्तु उन सबका जितना गम्भीर अध्ययन होना चाहिए था, उतना उस समय तक नहीं हुआ था। क्योंकि सबके सामने प्रमुख प्रश्न यही था कि पहले हम अंग्रेजों को निकालें फिर अपने घर का निर्माण कैसे करेंगे, इसका विचार कर लेंगे। इसलिए यदि विचारों के मतभेद भी कहीं थे तो लोगों ने उनको दबा करके रखा था। यहाँ तक कि समाजवाद के आधार पर आगे का भारत बनना चाहिए, इस तरह का विचार करने वाले जो लोग थे, वे कांग्रेस के अन्दर ही एक सोशलिस्ट पार्टी बनाकर काम करते रहे। उसके बाहर निकलकर उन्होंने अलग से कार्य करने का प्रयत्न नहीं किया। क्रान्तिकारी भी अपने-अपने विचारों के अनुसार स्वराज्य के लिए काम करते थे। इसी प्रकार और भी लोग थे। किन्तु प्रमुखता इसी बात की रही कि पहले देश को आजाद कर लिया जाए।

अतः देश आजाद होने के बाद स्वाभाविक रूप से यह सवाल हम सब लोगों के सामने आना चाहिए था कि अब हमारे देश की दिशा क्या होगी? किन्तु सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि देश की स्वतन्त्रता के बाद भी जितना गम्भीर रूप से इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए था, उतना गम्भीर रूप से लोगों ने विचार नहीं किया और आज भी जब १६-१७ वर्ष देश को स्वतन्त्र हुए हो गए, हम यह नहीं कह सकते कि कोई दिशा निश्चित हो गयी है।

भारत किधर जाने वाला है ?

समय-समय पर कांग्रेस या दूसरे दल के लोगों ने कल्याणकारी राज्य, समाजवाद, उदारसतवाद, आदि का ध्येय अवश्य घोषित किया है। विविध नारे लगाये गए हैं। परन्तु ये जितने नारे लगाने वाले लोग हैं, उनके सामने उन सब विचारधाराओं का नारे से अधिक कोई महत्व नहीं रहता। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि इसका मुझे अनुभव है। एक बार एक सज्जन से बातचीत हो रही थी। वह कह रहे थे कि कांग्रेस के विरुद्ध मिल-जुलकर अपने को एक मोर्चा बनाना चाहिए ताकि अच्छी तरह से लड़ सकें। राजनीतिक दृष्टि से समय-समय पर इस प्रकार की नीतियाँ लेकर दल चलते हैं और इसलिए उनके इस प्रस्ताव में तो कोई अनुचित बात नहीं थी। परन्तु बात करते-करते मैंने सहज में पूछ लिया कि 'हम लोग मोर्चा तो शायद बना लेंगे परन्तु कुछ थोड़ा बहुत कार्यक्रम पर भी विचार कर लिया जाए तो बहुत अच्छा होगा। कौन-सा आर्थिक कार्यक्रम लेकर चलें? कौन-सा राजनैतिक कार्यक्रम लेकर चलें? इन प्रश्नों पर भी विचार करना चाहिए।'

इस पर उन्होंने सहजभाव से कह दिया कि इसकी कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, आपको जो पसन्द हो स्वीकार कर लीजिए। हम तो घोर साम्यवादी कार्यक्रम से लेकर बिल्कुल पूँजीवादी कार्यक्रम तक जो आप चाहें उसका समर्थन कर देंगे। उनको किसी भी कार्यक्रम में कोई आपत्ति नहीं थी। उद्देश्य केवल इतना ही था कि किसी-न-किसी तरीके से कांग्रेस को हरा देना चाहिए। आज भी बहुत बार लोग कहते हैं कि कम्युनिस्टों तथा बाकी सब लोगों से मिलकर भी कांग्रेस को हरा दिया जाए।

सांप-नेवला एक साथ

केरल में अभी-अभी चुनाव हुए हैं। उसमें कम्युनिस्ट, मुस्लिम लीग, स्वतन्त्र पार्टी, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, विद्रोही कांग्रेस, जो केरल कांग्रेस के नाम से आई, क्रान्तिकारी सोशलिस्ट पार्टी आदि जितनी भी पार्टियाँ हैं, इनमें आपस में भिन्न-भिन्न प्रकार से गठबन्धन हुए। इन गठबन्धनों के कारण यह पता नहीं लग सकता था कि इनके कोई राजनीतिक सिद्धान्त, विचार अथवा आदर्श भी हैं या नहीं। विचारों की दृष्टि से यह स्थिति है। कांग्रेस में भी यही बात दिखाई दे रही है। यद्यपि कांग्रेस ने प्रजातन्त्रीय समाजवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया है तथापि कांग्रेस के लोग जो बोलते हैं उनमें यही दिखाई देता है कि वहाँ पर एक निश्चित सिद्धान्त, निश्चित कार्यक्रम नहीं। घोर कम्युनिस्ट विचारधारा वाले भी कांग्रेस के अन्दर विद्यमान हैं और उस कम्युनिज्म का डटकर विरोध करते हुए पूँजीवादी विचारधारा वाले भी कांग्रेस के अन्दर मौजूद हैं। 'अहि-नकुल योग' के

अनुसार नकुल और साँप के सह-अस्तित्व का कोई यदि जादू का पिटारा हो सकता है तो वह आज की कांग्रेस है।

हमें आत्माभिमुख होना पड़ेगा

इस स्थिति में हम आगे बढ़ सकेंगे या नहीं, इसका हमें विचार करना चाहिए। देश में आज की अनेक समस्याओं की कारण-मीमांसा करें तो पता चलेगा कि अपने गन्तव्य और उसकी दिशा का अज्ञान बहुतांश में आज की अव्यवस्था के लिए जिम्मेदार है। यह तो मैं मानता हूँ कि हिन्दुस्थान के सभी ४५ करोड़ लोग सब प्रश्नों पर अथवा किसी एक प्रश्न पर भी पूर्णत: एक विचार और एक मत नहीं हो सकते। किसी भी देश में यह सम्भव नहीं है। फिर भी राष्ट्र की एक सामान्य इच्छा नाम की कोई चीज होती है। उसको आधार बनाकर काम किया जाए तो सर्वमान्य व्यक्ति को लगता है कि मेरे मन के मुताबिक काम हो रहा है। उसमें से विचारों की अधिकतम एकता भी पैदा होती है। अक्तूबर-नवम्बर १९६२ में कम्युनिस्ट चीन के आक्रमण के समय जनता की अवस्था इस तथ्य का अच्छा उदाहरण है। उस समय देश में एक उत्साह की लहर पैदा हो गई थी। कर्म और त्याग दोनों की शक्ति जाग्रत हो गई थी। जनता और सरकार के बीच, भिन्न-भिन्न दलों के बीच तथा नेता और जनता के बीच कोई खाई नहीं दिखाई देती थी। यह सब कैसे हुआ? परकीय सत्ता द्वारा लाई गयी आपत्ति ने हमें आत्माभिमुख किया। सरकार ने वह नीति अपनाई जो जनता के मन के अनुसार तथा पुरुषार्थ का आह्वान करने वाली थी। फलत: हम एक होकर खड़े हो गये।

समस्याओं का कारण—'स्व' के प्रति दुर्लक्ष्य

आवश्यकता है कि अपने 'स्व' का विचार किया जाए। बिना उसके स्वराज्य का कोई अर्थ नहीं। स्वतन्त्रता हमारे विकास और सुख का साधन नहीं बन सकती। जब तक हमें अपनी असलियत का पता नहीं तब तक हमें अपनी शक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता और न उनका विकास ही सम्भव है। परतन्त्रता में समाज का 'स्व' दब जाता है। इसीलिए राष्ट्र स्वराज्य की कामना करते हैं जिससे वे अपनी प्रकृति और गुणधर्म के अनुसार प्रयत्न करते हुए सुख की अनुभूति कर सकें। प्रकृति बलवती होती है। उसके प्रतिकूल काम करने से अथवा उसकी ओर दुर्लक्ष्य करने से कष्ट होते हैं। प्रकृति का उन्नयन कर उसे 'संस्कृति' बनाया जा सकता है, पर उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि किस प्रकार मानव-प्रकृति एवं भावों की अवहेलना से व्यक्ति के जीवन में अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति प्राय: उदासीन एवं अनमना रहता है। उसकी कर्म-शक्ति क्षीण हो जाती है अथवा विकृत होकर विपथगामिनी बन जाती है। व्यक्ति के समान राष्ट्र भी प्रकृति के प्रतिकूल चलने पर अनेक व्यथाओं का शिकार बनता है। आज भारत की अनेक समस्याओं का यही कारण है।

राजनीति में अवसरवादिता

राष्ट्र का मार्गदर्शन करने वाले तथा राजनीति के क्षेत्र में काम करने वाले अधिकांश व्यक्ति इस प्रश्न की ओर उदासीन हैं। फलत: भारत की राजनीति, अवसरवादी एवं सिद्धान्तहीन व्यक्तियों का अखाड़ा बन गई है। राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक दलों के न कोई सिद्धान्त एवं आदर्श हैं और न कोई आचार-संहिता। एक दल छोड़कर दूसरे दल में जाने में व्यक्ति को कोई संकोच नहीं होता। दलों के विघटन अथवा विभिन्न दलों की युक्ति भी होती है तो वह किसी तात्विक मतभेद अथवा समानता के आधार पर नहीं अपितु उसके मूल में चुनाव और पद ही प्रमुख रूप से रहते हैं। १९३७ में जब हाफिज मुहम्मद इब्राहीम मुस्लिम लीग के टिकट पर चुने जाने के बाद कांग्रेस में सम्मिलित हुए तो उन्होंने स्वस्थ राजनीतिक परम्परा के अनुसार विधानसभा से त्याग-पत्र देकर पुन: कांग्रेस के टिकट पर चुनाव लड़ा और जीतकर आए। १९४८ में जब कांग्रेस से अलग हटकर सोशलिस्ट पार्टी का निर्माण हुआ तब सभी सोशलिस्टों ने, जो विधानमण्डलों के सदस्य थे, त्याग-पत्र देकर अपने-अपने क्षेत्र से पुन: चुनाव लड़े। किन्तु

उसके बाद किसी ने इस परम्परा का निर्वाह नहीं किया। अब राजनीतिक क्षेत्र में पूर्ण स्वैराचार है। इसी का परिणाम है कि आज भी सभी के विषय में जनता के मन में समान रूप से अनास्था है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं कि जिसकी आचरणहीनता के विषय में कुछ कहा जाए तो जनता विश्वास न करे। इस स्थिति को बदलना होगा। बिना उसके समाज में व्यवस्था और एकता स्थापित नहीं की जा सकती।

हम किस ओर चलें ?

हम किस ओर चलें ? राष्ट्र के सामने यह प्रश्न है। कुछ लोग कहते हैं कि राष्ट्र के परतन्त्र होने के पूर्व—एक हजार वर्ष पहले जहाँ हमने राष्ट्र जीवन का सूत्र छोड़ दिया था—वहीं से हम उसे आगे बढ़ाएँ। पर राष्ट्र कोई वस्त्र या पुस्तक के समान निर्जीव वस्तु तो है नहीं जिसे बुनते या पढ़ते समय जहाँ एक बार छोड़ दिया, वहाँ से फिर किसी विशेष अवधि के बाद उसे आगे बढ़ाया जा सके। फिर यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं होगा कि परतन्त्रता के साथ एक हजार वर्ष पूर्व हमारे जीवन का सूत्र एकदम टूट गया है तथा तब से अब तक हम पूर्णतया निष्क्रिय अथवा गतिहीन रहे हैं। बदली हुई परिस्थितियों में अपने जीवन को बनाये रखने तथा स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने में अपने जीवन को अभिव्यक्त किया। हमारे जीवन का प्रवाह अवरुद्ध नहीं अपितु आगे बढ़ता गया। गंगा की धारा को लौटाने का प्रयत्न बुद्धिमानी नहीं होगी। बनारस की गंगा हरिद्वार के समान शीतल एवं स्वच्छ चाहे न हो, परन्तु उतनी ही पवित्र एवं मुक्तिदायिनी है। उसमें मिलने वाले जिन नदी-नालों को उसने आत्मसात् कर लिया है उनकी कलुषा तथा गन्दगी की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। वे गंगा में मिलकर गंगा ही बन गये हैं। अब तो गंगा के प्रवाह को आगे ही बढ़ना होगा।

यदि सम्पूर्ण स्थिति इतनी ही होती तब तो कोई कठिनाई नहीं थी। विश्व में हम अकेले ही तो नहीं हैं। दूसरे राष्ट्र भी हैं। उन्होंने पिछले एक हजार वर्ष में अभूतपूर्व उन्नति की है। हमारा सम्पूर्ण ध्यान तो अपनी

स्वतन्त्रता के लिए लड़ने तथा अपनी रक्षा के प्रयत्नों में ही लगा रहा है। विश्व की इस प्रगति में हम सहभागी नहीं हो सके। अब जब हम स्वतन्त्र हो गये हैं तो क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि हम अपनी इस कमी को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करके विश्व के इन प्रगत देशों के साथ खड़े हो जाएँ ? यहाँ तक तो, मैं समझता हूँ, मतभेद की कोई गुंजाइश नहीं है।

स्वदेशी की भावना सर्वव्यापी हो

समस्या तब पैदा होती है, जब हम पश्चिम की प्रगति के कारणों तथा परिणामों अथवा वास्तविकता एवं भासमान के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते। यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब हम यह देखते हैं कि इन प्रगत देशों में से ही एक ने हमारे ऊपर डेढ़ सौ वर्षों तक राज्य किया तथा अपने राज्यकाल में उसने ऐसे अनेक उपाय किये जिससे हमारे अन्दर अपने सम्बन्ध में तिरस्कार तथा उनके विषय में आदर का भाव पैदा हो जाए। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के साथ ही पश्चिमी देशों के रहन-सहन, बोलचाल, खानपान आदि के तरीके भी इस देश में आये। भौतिक-विज्ञान ही नहीं अपितु नीतिशास्त्र, राज्य-व्यवस्था, अर्थनीति तथा समाज धारणा के क्षेत्र में भी इन देशों के मानदण्ड हमारे मानक बन गये। आज भारत के शिक्षित वर्ग के जीवन मूल्यों पर पश्चिम का यह प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। हमें निर्णय करना पड़ेगा कि यह प्रभाव अच्छा है या बुरा। जब तक अंग्रेज थे तब तक तो हम स्वदेशी की भावना से अंग्रेजियत को दूर रखने में ही गौरव समझते थे, किन्तु अब जब अंग्रेज चला गया है तब अंग्रेजियत पश्चिम की प्रगति का द्योतक एवं माध्यम बनकर अनुकरण की वस्तु बन गयी है। यदि यह सत्य है तो संकुचित राष्ट्रीयता के भाव को आड़े लाकर राष्ट्र की प्रगति में बाधा डालना ठीक नहीं होगा। किन्तु इसके विपरीत पाश्चात्य जीवन मूल्यों और विज्ञान की प्रगति को यदि अलग किया जा सकता है तो अंग्रेजियत के मोहावरण का परित्याग करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा। पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पाश्चात्य राजनीति एवं अर्थनीति की दिशा को ही प्रगति की दिशा समझते हैं और

इसलिए भारत पर वहाँ की स्थिति का प्रक्षेपण करना चाहते हैं। अतः भारत की भावी दिशा का निर्णय करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम पश्चिम की राजनीति के वैचारिक अधिष्ठान तथा उनकी वर्तमान पहेली का विचार कर लें।

यूरोप में राष्ट्रों का उदय

जिन विचारधाराओं ने यूरोपीय राजनीति एवं जीवन को विशेषतः प्रभावित किया है उनमें राष्ट्रवाद, प्रजातन्त्र तथा समाजवाद की प्रमुख रूप से गणना की जा सकती है। इसके साथ ही विश्व-एकता तथा शान्ति का स्वप्न देखने वाले भी वहाँ हुए हैं और उस दिशा में भी कुछ प्रयत्न किये जा रहे हैं।

इन विचारों में राष्ट्रवाद सबसे पुराना तथा बलशाली है। रोम के साम्राज्य के पतन के बाद तथा रोमन कैथोलिक चर्च के प्रति विद्रोह अथवा उसके प्रभाव में कमी के कारण यूरोप में राष्ट्रों का उदय हुआ। यूरोप का पिछला एक हजार वर्ष का इतिहास इन राष्ट्रों के आविर्भाव तथा पारस्परिक संघर्ष का इतिहास है। इन राष्ट्रों ने यूरोप महाद्वीप से बाहर जाकर अपने उपनिवेश बनाये तथा दूसरे स्वतन्त्र देशों को गुलाम बनाया। राष्ट्रवाद के उदय के कारण राष्ट्र और राज्य की एकता की प्रवृत्ति भी बढ़ी तथा राष्ट्रीय राज्य (National States) का यूरोप में उदय हुआ। साथ ही रोमन कैथोलिक चर्च के केन्द्रीय प्रभाव में कमी होकर या तो राष्ट्रीय चर्च का निर्माण हुआ या मजहब का। मजहबी गुरुओं का राजनीति में कोई विशेष स्थान नहीं रहा। सेक्युलर स्टेट की कल्पना का इस प्रकार जन्म हुआ।

यूरोप में प्रजातन्त्र का जन्म

दूसरी क्रान्तिकारी कल्पना प्रजातन्त्र की है जिसका यूरोप की राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ है। प्रारम्भ में तो जितने राष्ट्र बने उनमें राजा ही शासनकर्ता रहा, किन्तु राजा की निरंकुशता के विरुद्ध जनता में भी

धीरे-धीरे जागरण हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के कारण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप सभी देशों में एक वैश्य वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। स्वभावतः इनका पुराने सामन्तों तथा राजाओं से संघर्ष आया। इस संघर्ष ने 'प्रजातन्त्र' की तात्विक भूमिका ग्रहण की। यूनान के नगर-गणराज्यों-से इस विचार का उद्गम ढूँढा गया। प्रत्येक नागरिक की समानता, बन्धुता और स्वतन्त्रता के आदर्श के सहारे जनसाधारण को इस तत्व के प्रति आकृष्ट किया गया। फ्रांस में बड़ी भारी राज्यक्रांति हुई। इंग्लैण्ड में भी समय-समय पर आन्दोलन हुए। प्रजातन्त्र की जनमन पर पकड़ हुई। राजवंश या तो समाप्त कर दिये गये अथवा उनके अधिकार मर्यादित कर वैधानिक राज्यपद्धति की नींव डाली गई। आज प्रजातन्त्र यूरोप की मान्य पद्धति है। जिन्होंने प्रजातन्त्र की अवहेलना की वे भी प्रजातन्त्र के प्रति निष्ठा व्यक्त करने में कमी नहीं करते। हिटलर, मुसोलिनी तथा स्टालिन जैसे तानाशाहों ने भी प्रजातन्त्र को अमान्य नहीं किया।

व्यक्ति का शोषण होता रहा

प्रजातन्त्र ने यद्यपि प्रत्येक नागरिक को वोट का अधिकार दिया, किन्तु जिन लोगों ने प्रजातन्त्र के संघर्ष का नेतृत्व किया था शक्ति उन्हीं के हाथों में रही। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप उत्पादन की नई पद्धति पर विश्वास हो गया था। स्वतन्त्र रहकर घर में काम करने वाला मजदूर अब कारखानेदार का नौकर बनकर काम करने लगा था। अपना गाँव छोड़कर वह नगरों में आ बसा था। वहाँ उसके आवास की व्यवस्था बहुत ही अधूरी थी। कारखाने में जिस ढंग से काम होता था, उसके कोई नियम नहीं थे। मजदूर असंगठित एवं दुर्बल था। वह शोषण, अन्याय और उत्पीड़न का शिकार बन गया था। राज्य की शक्ति जिनके हाथों में थी, वे भी उसी वर्ग में से थे, जो उनका शोषण कर रहे थे। अतः राज्य से कोई भी आशा नहीं थी।

इस अन्यायपूर्ण अवस्था के विरुद्ध विद्रोह तथा स्थिति में सुधार की

भावना लेकर कई महापुरुष खड़े हुए। उन्होंने अपने आपको समाजवादी कहा। कार्लमार्क्स भी इन समाजवादियों में से एक है। उसने विद्यमान अन्याय का विरोध करने के प्रयत्न में अर्थ-व्यवस्था तथा इतिहास का अध्ययन कर एक विश्लेषण प्रस्तुत किया। कार्लमार्क्स की विवेचना के बाद समाजवाद एक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा हो गया। बाद के समाजवादियों ने मार्क्स को माना हो या न, किन्तु उनके विचारों पर उसकी छाप अवश्य है।

सर्वहारा की तानाशाही

वैज्ञानिक समाजवाद के अनुसार उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व ही शोषण की जड़ है। यदि इन साधनों को समाज (जो इनकी निगाहों में राज्य ही है) के हाथों में दे दिया जाय तो शोषण समाप्त हो जायेगा। किन्तु इसके पूर्व राज्य को 'शोषक वर्ग' के चंगुल से निकालना होगा तथा व्यवस्था करनी होगी कि वह उनके अधीन कभी न रहे। इस हेतु प्रोलिटेरिएट डिक्टेटरशिप (Dictatorship of the Proletariat) अर्थात् 'सर्वहारा की तानाशाही' कायम करनी होगी। समाज इस तानाशाही को सहन कर ले, इस हेतु उसके सामने यह आदर्श भी रखा गया कि शोषकों की समाप्ति तथा उनके द्वारा प्रतिक्रान्ति की सभी सम्भावनाओं के नष्ट होने के उपरान्त, राज्य की फिर आवश्यकता नहीं होगी। तब एक राज्यविहीन आदर्श समाज की उत्पत्ति होगी। कार्लमार्क्स ने अर्थव्यवस्था का विवेचन कर यह भी बताया कि पूँजीवाद में ही उसके विनाश के बीज छिपे हुए हैं तथा समाजवाद अवश्यम्भावी है।

अनेक वादों से त्रस्त : मार्ग कोई नहीं

यूरोप के कुछ देशों में समाजवाद के नाम पर राजनैतिक क्रान्तियाँ हुईं। जहाँ लोगों ने समाजवाद को स्वीकार नहीं किया वहाँ भी राज्यकर्ताओं को मजदूरों के अधिकारों को मान्य करना पड़ा तथा कल्याणकारी राज्य का आदर्श सामने रखा गया।

राष्ट्रवाद, प्रजातन्त्र, समाजवाद या समता समाजवाद के मूल में समता का ही भाव है; समता समानता से भिन्न है, इसे Equitability का पर्याय मान सकते हैं। इन तीन प्रवृत्तियों ने यूरोप की राजनीति को प्रभावित किया है। ये सब ऐसे आदर्श हैं जो अच्छे हैं। मानव की दैवी प्रवृत्तियों में से इनका जन्म हुआ है। किन्तु अपने में कोई भी विचार पूर्ण नहीं। इतना ही नहीं, इनमें से प्रत्येक आदर्श, व्यवहार में एक दूसरे का घातक बन जाता है। राष्ट्रवाद विश्वशान्ति के लिए खतरा पैदा करता है। प्रजातन्त्र पूँजीवाद के मेल से शोषण का कारण बन गया। पूँजीवाद को समाप्त कर समाजवाद आया तो उसने प्रजातन्त्र तथा उसके साथ ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता की ही बलि ले ली। अतः आज पश्चिम के सामने यह प्रश्न खड़ा है कि इन सभी अच्छी बातों का ताल-मेल कैसे बैठाया जाय?

भिन्न समाज : भिन्न विचार

पश्चिम के लोग यह तालमेल नहीं बैठा पाये। हाँ! समय-समय पर वहाँ कुछ लोगों ने इन विचारों में से कुछ को महत्व देकर उनका गठजोड़ करने का अवश्य प्रयत्न किया है। इंग्लैण्ड ने प्रजातन्त्र और राष्ट्रवाद का मेल बैठाकर अपना राजनैतिक ढाँचा विकसित किया, किन्तु फ्रांस यह काम नहीं कर पाया। वहाँ प्रजातन्त्र राष्ट्र के लिए अस्थिरता का कारण बन गया। ब्रिटेन की लेबर पार्टी समाजवाद और प्रजातन्त्र का मेल बैठाकर चलना चाहती है। किन्तु वहाँ ऐसे लोग हैं जो आशंका प्रकट कर रहे हैं कि यदि समाजवाद आया तो प्रजातन्त्र नहीं रहेगा। लेबर पार्टी भी अब समाजवाद के नाम पर राष्ट्रीयकरण की उतनी समर्थक नहीं रही जितना 'वैज्ञानिक समाजवाद' चाहता है।' उसका समाजवाद कुछ नरम हो गया है। हिटलर और मुसोलिनी ने नेशनल सोशलिज्म अपनाया। उन्होंने प्रजातन्त्र को तिलांजलि दे दी। अन्त में सोशलिज्म भी उनके नेशनलिज्म का अनुचर बन गया तथा उनका राष्ट्रवाद विश्व के लिए संकट। बेशक आज दुनिया से हम कुछ लें, परन्तु दुनिया ऐसी स्थिति में नहीं है कि यह

हमारा कुछ मार्गदर्शन कर सके। वह तो स्वयं चौराहे पर है। ऐसी अवस्था में हम उससे किसी प्रकार का मार्गदर्शन नहीं पा सकते। हमें तो यह सोचना चाहिए कि अब तक की दुनिया की प्रगति देखते हुए कहीं ऐसी भी गुंजाइश है या नहीं कि हम उसकी प्रगति में अपना भी योगदान कर सकें? दुनिया की प्रगति का अध्ययन कर लेने के बाद क्या हम भी उन्हें कुछ दे सकते हैं? यह विचार हमें दुनिया के अंग बनकर करना चाहिये। हम केवल स्वार्थी न रहकर दुनिया की प्रगति में सहयोगी बनें। यदि हमारे पास कोई ऐसी चीज है जिससे कि विश्व को लाभ होगा तो वह देने में हमें कोई एतराज नहीं होना चाहिए, मिलावट के जमाने के अनुरूप विशुद्ध विचारों को विकृत करके उनका मिश्रित रूप न लें बल्कि उसको सुधार कर तथा मन्थन करके ग्रहण करना चाहिए। हमें विश्व पर बोझ बनकर नहीं, उसकी समस्याओं के छुटकारे में सहायक बनकर रहना चाहिये। हमारी परम्परा और संस्कृति विश्व को क्या दे सकती है? यह भी विचार करना चाहिए।

(२२ अप्रैल, १९६५)

२

एकात्म मानववाद

आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के १७ वर्ष उपरान्त भी भारत के सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है कि सम्पूर्ण जीवन की रचनात्मक दृष्टि से कौन-सी दिशा ली जाय? इस सम्बन्ध में सामान्यतया लोग सोचने के लिए तैयार नहीं। वे तो तत्कालीन प्रश्नों का ही विचार करते हैं। कभी आर्थिक प्रश्नों को लेकर उनको सुलझाने का प्रयत्न होता है और कभी राजनैतिक अथवा सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने के प्रयत्न किये जाते हैं। किन्तु मूलदिशा का पता न होने के कारण जितने प्रयत्न होते हैं, न तो उनमें पूरा उत्साह रहता है और न उनमें आनन्द का अनुभव होता है और न ही उनके द्वारा जैसी कुछ सफलता मिलनी चाहिए वैसी सफलता ही मिल पाती है।

आधुनिक बनाम पुरातन

देश की दिशा के सम्बन्ध में विचार करने वालों में दो प्रकार के लोग हैं। एक तो वे हैं जो कि भारत की हजारों वर्षों से चली आने वाली प्रगति

की दिशा में, गुलाम होने पर जहाँ वह रुक गया, वहाँ से उसे आगे बढ़ाना चाहिए—यह विचार लेकर के चलते हैं। दूसरी ओर वे लोग हैं जो कि भारत की उस पुरानी चीज को भिन्न-भिन्न कारणों से (काल के कारण से या मूलत: उस अवस्था को अयोग्य मानकर) उसके सम्बन्ध में विचार करने को तैयार नहीं। इसके विपरीत पश्चिम में जो आन्दोलन हुए, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जो विचार सरणियाँ जन्मीं, उनको ही वे प्रगति की दिशा समझकर उन सम्पूर्ण विचारधाराओं और आन्दोलनों को भारत के ऊपर आरोपित करने का प्रयत्न करते हैं। भारत उन्हीं का किसी-न-किसी प्रकार से प्रतिबिम्ब बने इसी विचार को लेकर वे चलते हैं। ये दोनों ही प्रकार के विचार सत्य नहीं है। किन्तु उनको पूर्णत: अमान्य करके भी चलना ठीक नहीं होगा। उनमें सत्यांश अवश्य है।

जो यह विचार करते हैं कि जहाँ हम रुक गये थे, वहाँ से लौट करके पुन: चलना आरम्भ करें, वे यह भूल जाते हैं कि लौटकर चलना वांछनीय हो या न हो, असम्भव अवश्य है, क्योंकि समय की गति को पीछे नहीं ले जाया जा सकता।

पुराना छूट नहीं सकता

हजारों वर्षों में जो कुछ हमने किया है वह जबरदस्ती से हमें मिला हो या प्रेमपूर्वक हमने मिलाया हो, उसमें से हर चीज को हटा करके नहीं चल सकते। साथ ही इस काल में हमने स्वयं भी कुछ न कुछ अपने जीवन में निर्माण किया है। जो नई परिस्थितियाँ पैदा हुईं, जो नई चुनौतियाँ आईं, उनमें हम सदैव वैरागी (Passive Agent) के रूप में निष्क्रिय होकर नहीं बैठे। बाहर वालों ने जो कुछ किया हम केवल उसका प्रतिकार ही नहीं करते रहे, हमने भी परिस्थितियों के अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न किया। इसलिए उस सब जीवन को भुलाकर तो चल नहीं सकते।

विदेशी विचार सार्वलौकिक नहीं

इसी प्रकार जो लोग विदेशी जीवन तथा विचारों को भारत की प्रगति का आधार बनाकर चलना चाहते हैं, वे भी यह भूल जाते हैं कि ये

विदेशी विचार एक परिस्थिति-विशेष तथा प्रवृत्ति-विशेष की उपज हैं। ये सार्वलौकिक नहीं हैं। उन पर पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयता, प्रकृति और संस्कृति की अमिट छाप है। साथ ही वहाँ के ये बहुत से विचार अब पुराने पड़ चुके हैं। कार्लमार्क्स का सिद्धान्त देश और काल दोनों ही दृष्टियों से इतना बदल चुका है कि आज हम मार्क्सवादी विश्लेपणों को तोते की तरह रट कर, आँख मूँदकर भारत पर लागू करें तो यह वैज्ञानिक अथवा विवेकपूर्ण दृष्टिकोण नहीं कहा जायेगा। यह रूढ़िवादिता होगी। जो अपने देश की रूढ़ियों को मिटाकर सुधार का दावा करें, वे विदेश की रूढ़ियों के गुलाम बन जायें यह तो आश्चर्य का विषय है।

अपना देश : अपनी परिस्थितियाँ

प्रत्येक देश की अपनी विशेष ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति होती है, और उस समय उस देश के जो भी नेता और विचारक होते हैं, वे उस परिस्थिति में से देश को आगे बढ़ाने की दृष्टि से मार्ग निर्धारित करते हैं। अपनी समस्याओं के समाधान के लिए जो हल उन्होंने सुझाये, वे उसी प्रकार, भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले समाज पर पूरी तरह लागू हो जायें, यह विचार करना गलत है।

एक सामान्य उदाहरण लें। दुनिया भर के मनुष्यों के शरीर के अंगों की क्रिया समान होते हुए भी जो दवा इंग्लैण्ड में कारगर होती है वह भारत में भी उपयोगी सिद्ध होगी, यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। रोगों का सम्बन्ध जलवायु, आचार-विचार, खान-पान तथा वंश-परम्परा से रहता है। ऊपर से देखने पर रोग एक-सा नजर आने पर भी, उसकी दवा सब-मनुष्यों के लिए एक नहीं हो सकती। सब मर्जों और सब मनुष्यों के लिए एक ही दवा का नारा लगाने वाले (क्रैक्स) नीम-हकीम हो सकते हैं, चिकित्सक नहीं। इसलिए आयुर्वेद में सिद्धान्त बताया है कि **'यद्देशस्य यो जन्तु: तद्देशस्य तस्यौषधम्'**। इसलिए बाहर की जितनी भी बातें हैं उनको हम उसी प्रकार से लेकर के अपने देश में चलें यह तो सम्भव नहीं होगा और उसके द्वारा कभी अपनी प्रगति नहीं कर सकेंगे।

किन्तु दूसरी बात का विचार करना होगा कि ये जितनी भी बातें दुनिया में हुई हैं, ये सबकी सब ऐसी नहीं कि उनका सम्बन्ध देश विशेष के साथ ही हो। वहाँ भी मानव रहते हैं और मानव के चिन्तन और क्रियाओं में से जो चीज पैदा होती है, उसका बाकी मानवों के साथ भी कुछ न कुछ सम्बन्ध रह सकता है। इसलिए मानव ने ज्ञान से जो कुछ कमाया है उससे हम बिल्कुल आँख बन्द करके चलें, यह भी बुद्धिमत्ता की बात नहीं होगी। उसमें से सत्य को हमें स्वीकार करना और असत्य को छोड़ना पड़ेगा। सार का भी अपनी परिस्थिति के अनुसार परिष्कार करना होगा। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जहाँ तक शाश्वत सिद्धान्तों तथा स्थायी सत्यों का सम्बन्ध है हम सम्पूर्ण मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें। इन तत्वों में जो हमारा है उसे युगानुकूल और जो बाहर का है उसे देशानुकूल ढाल कर हम आगे चलने का विचार करें।

आदर्शों का संघर्ष

पश्चिम की राजनीति अभी तक राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र, समता या समाजवाद के आदर्शों को मानकर चली है। विश्वशान्ति के लिए भी बीच-बीच में प्रयत्न हुए हैं तथा विश्व एकता के आदर्श की कल्पना भी लोगों ने की है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में 'लीग ऑफ नेशन्स' तथा दूसरे युद्ध के बाद 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' को जन्म दिया गया। विभिन्न कारणों से ये सफल नहीं हुए। फिर भी यह उस दिशा में प्रयत्न अवश्य हैं।

ये सभी आदर्श व्यवहार में अधूरे तथा विभिन्न समस्याओं को जन्म देने वाले सिद्ध हुए हैं। राष्ट्रीयता, दूसरे देशों की राष्ट्रीयता से टकराकर उनके लिए घातक बन जाती है तथा विश्वशान्ति को नष्ट करती है। साथ ही विश्वशान्ति को यदि यथा स्थिति का पर्याय मान लिया जाय तो बहुत से राष्ट्र स्वतन्त्र हो ही नहीं पायेंगे।

विश्व की एकता और राष्ट्रीयता में भी टकराव आता है। कुछ लोग विश्व एकता के लिए राष्ट्रीयता को नष्ट करने की बात कहते हैं, तो दूसरे विश्व एकता को स्वप्न जगत की बात बताकर अपने राष्ट्र के

स्वार्थों को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। दोनों का मेल कैसे बिठाया जाय, इस प्रकार की समस्या प्रजातन्त्र और समाजवाद के बीच उपस्थित होती है।

प्रजातन्त्र में व्यक्ति को स्वातन्त्र्य तो है परन्तु उसका विकास पूंजीवादी व्यवस्था के साथ शोषण और केन्द्रीयकरण के साधन के रूप में हुआ। शोषण मिटाने के लिए समाजवाद लाया गया। परन्तु उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और गरिमा को ही नष्ट कर दिया। आज विश्व किंकर्त्तव्यविमूढ़ है। उसे मार्ग नहीं दीख रहा कि वह कहाँ जाय। पश्चिम आज इस अवस्था में नहीं कि वह निर्विवाद रूप से आत्म विश्वासपूर्वक कह सके 'नान्य: पन्थ:'। वे स्वयं मार्ग टटोल रहे हैं। अत: उनका अन्धानुकरण करना तो 'अन्धेन नीयमाना यथान्धा:' की ही उक्ति चरितार्थ होगी।

इस परिस्थिति में हमारी निगाह भारतीय संस्कृति की ओर जाती है। क्या यह विश्व की समस्या के समाधान में कुछ योगदान कर सकती है?

संस्कृति का विचार करें

राष्ट्रीय दृष्टि से तो हमें अपनी संस्कृति का विचार करना ही होगा, क्योंकि वह हमारी अपनी प्रकृति है। स्वराज्य का स्वसंस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। संस्कृति का विचार न रहा तो स्वराज्य की लड़ाई स्वार्थी, पदलोलुप लोगों की एक राजनीतिक लड़ाई मात्र रह जायेगी। स्वराज्य तभी साकार और सार्थक होगा जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बन सकेगा। इस अभिव्यक्ति में हमारा विकास भी होगा और हमें आनन्द की अनुभूति भी होगी।

अत: आज राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टियों से आवश्यक हो गया है कि हम भारतीय संस्कृति के तत्त्वों का विचार करें।

भारतीय संस्कृति—एकात्मवादी

भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण जीवन का, सम्पूर्ण सृष्टि का, संकलित विचार करती है। उसका दृष्टिकोण

एकात्मवादी अर्थात् Integrated है। टुकड़ों-टुकड़ों में विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि से ठीक हो सकता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं। पश्चिम की समस्या का मुख्य कारण उनका जीवन के सम्बन्ध में टुकड़ों-टुकड़ों में विचार तथा फिर उन सबको थेगली लगाकर जोड़ने का प्रयत्न है।

हम यह तो स्वीकार करते हैं कि जीवन में अनेकता अथवा विविधता है, किन्तु उसके मूल में निहित एकता को खोज निकालने का हमने सदैव प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न पूर्णतः वैज्ञानिक है। विज्ञानवेत्ता का प्रयत्न रहता है कि वह जगत् में दिखने वाली अव्यवस्था में से व्यवस्था ढूंढ़ निकाले, उसके नियमों का पता लगाए तथा तदनुसार व्यवहार के नियम बनाये। रसायनशास्त्रियों ने सम्पूर्ण भौतिक जगत में से कुछ आधारभूत तत्त्व (Element) ढूँढकर निकाले तथा बताया कि सभी वस्तुएँ उनसे ही बनी हैं। भौतिकी उससे भी आगे आ गई। उसने इन तत्त्वों के मूल में निहित शक्ति अर्थात् चेतना को ढूँढ़ निकाला। आज सम्पूर्ण जगत में चेतना का आविष्कार मात्र है।

दार्शनिक भी मूलतः वैज्ञानिक है। पश्चिम के दार्शनिक द्वैत तक पहुँचे। हीगेल ने 'थीसिस, एण्टीथीसिस तथा सिन्थेसिस' का सिद्धान्त रखा जिसका आधार लेकर कार्लमार्क्स ने अपना इतिहास और अर्थशास्त्र का विश्लेषण प्रस्तुत किया।

डार्विन ने 'मात्स्य न्याय' को जीवन का आधार माना। किन्तु हमने सम्पूर्ण जीवन में मूलभूत एकता का दर्शन किया। जो द्वैतवादी रहे, उन्होंने भी प्रकृति और पुरुष को एक दूसरे का विरोधी अथवा परस्पर संघर्षशील न मानकर पूरक ही माना है। जीवन की विविधता अन्तर्भूत एकता का आविष्कार है और इसलिए उनमें परस्परानुकूलता तथा परस्पर पूरकता है। बीज की एकता ही पेड़ के मूल, तना, शाखाएँ, पत्ते, फूल और फल के विविध रूपों में प्रकट होती है। इन सबके रंग, रूप तथा कुछ-न-कुछ मात्रा में गुण में भी अन्तर होता है। फिर भी उनके बीज के साथ के. एकत्व के सम्बन्ध को हम सहज ही पहचान सकते हैं।

परस्पर संघर्ष—विकृति का द्योतक

विविधता में एकता अथवा एकता का विविध रूपों में व्यक्तीकरण ही भारतीय संस्कृति का केन्द्रस्थ विचार है। यदि इस तथ्य को हमने हृदयंगम कर लिया तो फिर विभिन्न सत्ताओं के बीच संघर्ष नहीं रहेगा। यदि संघर्ष है तो वह प्रकृति का अथवा संस्कृति का द्योतक नहीं, विकृति का द्योतक है। अर्थात् जिस मात्स्य-न्याय या जीवन संघर्ष को पश्चिम के लोगों ने ढूँढ़कर निकाला उसका ज्ञान हमारे दार्शनिकों को था।

मानव जीवन में काम, क्रोध आदि षड्विकारों को भी हमने स्वीकार किया है। किन्तु इन सब प्रवृत्तियों को अपनी संस्कृति अथवा शिष्ट व्यवहार का आधार नहीं बनाया। समाज में चोर और डाकू होते हैं। उनसे अपनी और समाज की रक्षा भी करनी चाहिए। किन्तु उनको हम अनुकरणीय अथवा मानव व्यवहार की आधारभूत प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि मानकर नहीं चल सकते। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (Survival of the fittest) जंगल का कानून है। मानव की सभ्यता का विकास इस कानून को मानकर नहीं बल्कि यह कानून न चल पाये इस व्यवस्था के कारण ही हुआ है। आगे भी यदि बढ़ना हो तो हमें इस इतिहास को ध्यान में रखकर ही चलना होगा।

सृष्टि में जैसे संघर्ष दिखता है वैसे ही सहयोग भी नजर आता है। वनस्पति और प्राणी दोनों एक दूसरे की आवश्यकता को पूरा करते हुए ही जिन्दा रहते हैं। हमें ऑक्सीजन वनस्पतियों से मिलती है तथा वनस्पतियों के लिए आवश्यक कार्बन-डाइओक्साइड प्राणि-जगत् से प्राप्त होती है। इस परस्पर पूरकता के कारण ही संसार चल रहा है।

संसार में एकता का दर्शन कर, उसके विविध रूपों के बीच परस्पर पूरकता को पहचानकर, उनमें परस्परानुकूलता का विकास करना तथा उसका संस्कार करना ही संस्कृति है। प्रकृति को ध्येय की सिद्धि के अनुकूल बनाना संस्कृति तथा उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती, उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं करती, बल्कि प्रकृति में जो भाव सृष्टि की धारणा तथा उसको अधिक सुखमय एवं हितकर

बनाने वाले हैं उनको बढ़ावा देकर दूसरी प्रवृत्तियों की बाधा को रोकना ही संस्कृति है।

एक छोटा-सा उदाहरण लें। भाई और भाई का सम्बन्ध, माता और पुत्र का सम्बन्ध, पिता और पुत्र का सम्बन्ध, बहन और भाई का सम्बन्ध, ये प्रकृति की देन हैं। ये सम्बन्ध जैसे मनुष्यों में होते हैं, वैसे पशुओं में भी होते हैं। जैसे एक माँ के दो बेटे भाई हैं, वैसे एक गाय के दो बछड़े भाई होंगे। परन्तु अन्तर कहाँ होता है? बेचारा पशु उस प्रकृति के सम्बन्ध को भूल जाता है। वह उसके आधार के ऊपर अपने बाकी सम्बन्धों का निर्माण नहीं कर पाता। किन्तु मानव इस बात को याद रखता है और याद रख करके उसके आधार पर अपने जीवन के व्यवहार की दिशा निश्चित करता है। इस विचार से वह अपने पारस्परिक सम्बन्धों का निर्माण करने का प्रयत्न करता है। मानव मूल्यों तथा उसकी निष्ठाओं का निर्धारण इसी आधार पर होता है। अच्छे और बुरे के सम्बन्ध में उसकी जो धारणाएँ निर्माण होती हैं वे इसी आधार पर निर्माण होती हैं। देखने को तो जीवन में भाई-भाई के बीच प्रेम और वैर दोनों ही मिलते हैं, किन्तु हम प्रेम को अच्छा मानते हैं। बन्धुभाव का विस्तार हमारा लक्ष्य रहता है। इसके विपरीत वैर अभीष्ट नहीं समझा जाता है। वैर को मानव व्यवहार का आधार बनाकर यदि इतिहास का विश्लेषण किया जाय और फिर उसमें एक आदर्श जीवन का स्वप्न देखा जाय, यह आश्चर्य की ही बात होगी।

माँ बच्चों का पालन-पोषण करती है। बच्चे के लिए माँ का प्रेम यह सबसे बड़ा समझा जाता है। इसको आधार बनाकर ही हम जीवन का निर्माण करने वाले व्यवहार के नियम बना सकते हैं। कहीं माँ के इस प्रेम के विपरीत भी अनुभव आता है। बिल्ली के बारे में ऐसा कहते हैं कि प्रसव के बाद उसे इतनी भूख लगती है कि वह अपने बच्चे को खा जाती है। किन्तु दूसरी ओर बंदरिया का बच्चा मर भी जावे, तो भी वह उसे चिपकाये लिये घूमती फिरती है। दोनों बातें देखने को मिलती हैं। अब प्रकृति के इन दो नियमों में से किस नियम को ढूँढकर हम जीवन का आधार बनाकर चलें? हमारा निर्णय तो यही होगा कि जो जीवन के

लिए सहायक और पोषक है। उसे ही हम आधार बनावें, इसके प्रतिकूल चलेंगे तो वह संस्कृति नहीं होगी।

नीतिशास्त्र के नियम

मनुष्य की प्रकृति में दोनों बातें हैं। मनुष्य की प्रकृति में क्रोध भी है, और लोभ भी है। मनुष्य की प्रकृति में मोह भी है और प्रेम भी है। मनुष्य की प्रकृति में त्याग भी है और तपस्या भी है। ये सब मनुष्य के जीवन में हैं। यदि हम काम, क्रोध, मोह और लोभ को आधार बनाकर के जीवन का विचार करें और कहें कि आखिर को तो सब लोग क्रोधी होते हैं, हर एक को क्रोध आता है, पशु को भी क्रोध आता है। इसलिए वही जीवन का मापदण्ड होना चाहिए। क्रोध को ठीक मानकर तथा लोगों को क्रोध की सलाह देकर यदि हम व्यवस्थायें बनायें तो वे चल नहीं पायेंगी। अतः सब जगह कहा है कि क्रोध मत करो। क्रोध आने के बाद भी मनुष्य क्रोध को रोक सकता है, उसका दमन कर सकता है और इसलिए हमें उसका दमन करना चाहिए। अतः 'दमन' हमारे जीवन का आधार हो सकता है, 'क्रोध' नहीं।

इस प्रकार के जीवन के जो नियम होते हैं इन्हीं नियमों को 'नीति-शास्त्र के नियम' कहते हैं। ये नियम कोई तय नहीं करता। यानी क्रोध आने पर हमें क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहिए बल्कि शान्त रहना चाहिए, क्रोध को पी जाना चाहिए—ऐसे जो नियम बनाए ये 'नीतिशास्त्र के नियम' हैं। अंग्रेजी में इन्हें इथिक्स (Ethics) कहते हैं। ये नियम किसी ने बनाए नहीं हैं, ये तो ढूँढे जाते हैं। जैसे यह नियम है कि यदि हम किसी पत्थर को फेंक दें तो वह नीचे गिर पड़ेगा। इसको 'गुरुत्वाकर्षण का नियम' कहते हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम न्यूटन ने बनाया नहीं है, उन्होंने इस नियम को ढूँढा। उसी प्रकार से मानव-सम्बन्धों के भी कुछ नियम हैं। गुस्सा आए तो उस गुस्से को दबाओ; यह मानव के लाभ का होता है। नीतिशास्त्र के ये नियम ढूँढे हुए नियम हैं।

एक-दूसरे के साथ झूठ मत बोलो; जैसा देखा है वैसा बोलो—यह

'सत्य' है। इसका लाभ हमें हर घड़ी अनुभव में आता है। हमको जो जैसा हो वैसा ही बोले तो अच्छा लगता है। अगर हमने एक बात देखी और दूसरी बोली, हर जगह हम झूठ बोलते रहे तो हमको भी बुरा लगेगा। बोलने वाले को भी बुरा लगेगा और सुनने वाले को भी बुरा लगेगा। और जीवन तो चल ही नहीं पाएगा। बड़ी कठिनाई हो जाएगी।

सूरज निकला और हमने देखा कि सूरज निकला है। घर में किसी व्यक्ति ने पूछा कि सूरज निकल आया क्या? अब अगर हमने उसको झूठ बोल दिया कि नहीं निकला या बाहर वर्षा हो रही है और कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति हमें पूछ रहा है कि बाहर वर्षा हो रही है या बादल साफ हैं? और हमने कहा कि हाँ, बादल बिल्कुल साफ हैं, वर्षा नहीं हो रही है। हमारी बात मानकर जब वह बाहर निकलता है तो एकदम भीग जाता है। इस स्थिति में सोचें कि हमारे उसके सम्बन्ध कैसे होंगे? इस प्रकार क्या जगत चल सकेगा?

यही नियम हमारे धर्म

यह सत्य का जो नियम है उसे ढूँढ़कर निकाला गया। इस प्रकार से ढूँढ़ करके निकाले हुए जो नियम हैं उनको ही हमारे यहाँ पर 'धर्म' कहा है। मानव जीवन को स्थिर रखने वाले, मानव जीवन की धारणा करने वाले—और मैं इस समय मानवता की बात कर रहा हूँ, बाकी चीजें छोड़ रहा हूँ। वैसे तो धर्म का सम्बन्ध सबके साथ आता है, सम्पूर्ण सृष्टि के साथ भी आएगा—जितने नियम हैं वे सब धर्म हैं। उस धर्म का आधार लेकर हम सम्पूर्ण जीवन का विचार करें।

व्यक्ति के सुख का विचार

सम्पूर्ण समाज या सृष्टि का ही नहीं, व्यक्ति का भी हमने एकात्म एवं संकलित विचार किया है। सामान्यत: तो व्यक्ति का विचार उसके शरीर मात्र के साथ किया जाता है। शरीर सुख को ही लोग सुख समझते हैं, किन्तु हम जानते हैं कि मन में चिन्ता रही तो शरीर सुख नहीं रहता।

प्रत्येक व्यक्ति शरीर का सुख चाहता है। किन्तु किसी को जेल में डाल दिया जाय और खूब अच्छा खाने को दिया जाय तो उसे सुख होगा क्या? आनन्द होगा क्या?

पुराना उदाहरण है कि भगवान कृष्ण जब कौरवों के यहाँ सन्धि करने के लिए गए तो दुर्योधन ने उनको बुलाया और कहा, 'महाराज! हमारे यहाँ भोजन करने के लिए आइए।' भगवान कृष्ण दुर्योधन के यहाँ भोजन करने नहीं गये, किन्तु विदुर के यहाँ गये। जब विदुर के यहाँ पहुँचे तो वहाँ हालत ऐसी हो गई कि विदुर की पत्नी ने अत्यधिक आनन्द के मारे केले के छिलके छील-छील कर भगवान कृष्ण के सामने डाल दिए और गूदा दूसरी तरफ फेंक दिया। भगवान कृष्ण भी उन छिलकों को ही आनन्दपूर्वक खाते रहे। इसलिए लोग कहते हैं—भाई! आनन्द के साथ, सम्मान के साथ यदि रूखी भी मिल जाय तो बहुत अच्छी है, परन्तु अपमान के साथ मेवा भी मिले तो उसे छोड़ना चाहिए। इसलिए मन के सुख का भी विचार करना पड़ता है।

इसी प्रकार बुद्धि का भी सुख है। इसके सुख का भी विचार करना पड़ता है। क्योंकि यदि मन का सुख हुआ भी और आपको बड़े प्रेम से रखा भी तथा आपको खाने-पीने को भी खूब दिया; परन्तु यदि दिमाग में कोई उलझन बैठी रही तो वैसी हालत होती है जैसे पागल की हो जाती है। पागल क्या होता है? उसे खाने को खूब मिलता है; हृष्टपुष्ट भी हो जाता है; बाकी भी सुविधाएँ होती हैं। परन्तु दिमाग की उलझन के कारण बुद्धि का सुख प्राप्त नहीं होता। बुद्धि में भी तो शान्ति चाहिए। इन बातों का हमें विचार करना पड़ेगा।

मानव की राजनीतिक आकांक्षा व तृप्ति

मनुष्य मन, बुद्धि, आत्मा तथा शरीर, इन चारों का समुच्चय है। हम उसको टुकड़ों में बाँट करके विचार नहीं करते। आज पश्चिम में जो तकलीफें पैदा हुई हैं उनका कारण यह है कि उन्होंने मनुष्य के एक-एक हिस्से का विचार किया। प्रजातन्त्र का आन्दोलन चला तो उन्होंने मनुष्य

को कहा कि "मैन इज ए पॉलिटिकल ऐनिमल" (Man is a political animal) अर्थात् मनुष्य एक राजनीतिक जीव है और इसलिए इसकी राजनीतिक आकांक्षा की तृप्ति होनी चाहिए। एक राजा बन करके बैठे और बाकी के राजा नहीं हों, ऐसा क्यों? राजा सबको बनाना चाहिए। इसलिए राजा बनने की आकांक्षा की पूर्ति के लिए उन्होंने सबको वोट देने का अधिकार दे दिया। प्रजातन्त्र में यह अधिकार तो मिल गया, परन्तु बाकी जो अधिकार थे वे कम हो गए। फिर उन्होंने कहा कि वोट देने का तो सबको अधिकार है, परन्तु पेट भरे या न भरे? यदि खाने को नहीं मिला तो? जब लोगों से कहा गया कि तुम चिन्ता क्यों करते हो? वोट का अधिकार तो तुम्हें है ही। तुम तो राजा हो। राजा बनकर बैठे रहो। राज तुम्हारा है। तो लोगों ने कहा—"बाबा! इस राज से हमें क्या करना है, अगर हमें खाने को ही नहीं मिल रहा। पेट को रोटी नहीं मिल रही तो हमें यह राज नहीं चाहिए। हमें तो पहले रोटी चाहिए।" कार्लमार्क्स आये और उन्होंने कहा—"हाँ! रोटी सबसे पहली चीज है। राज तो केवल रोटी वालों का समर्थक होता है। अतः रोटी के लिए लड़ो।" उन्होंने मनुष्य को रोटीमय बना दिया। पर जो लोग कार्लमार्क्स के रास्ते पर चले, वहाँ का अनुभव यह हुआ कि राज तो हाथ से गया ही और रोटी भी नहीं मिली। किन्तु दूसरी ओर अमरीका है। वहाँ रोटी भी है, राज भी है, इस पर भी सुख और शान्ति नहीं। जितनी आत्म-हत्याएँ अमरीका में होती हैं, और जितने लोग वहाँ मानसिक रोगों के शिकार रहते हैं, जितने लोग वहाँ पर ट्रंक्विलाइजर (Tranquilizers) खा-खाकर सोने का प्रयत्न करते हैं, उतना दुनिया में और कहीं नहीं होता है। लोग कहते हैं—"यह क्या समस्या खड़ी हो गई? रोटी मिल गई, राज मिल गया, पर नींद हराम।" अब वे कहते हैं—'बाबा नींद लाओ। किसी तरीके से नींद लाओ।' अब वहाँ नींद बड़ी चीज बन गई है और नींद भी आ गई तो तृष्णा उन्हें परेशान कर रही है।

शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की प्रगति

विचारकों को लग रहा है कि उनकी जीवन-पद्धति में कहीं-न-कहीं कोई मौलिक गलती अवश्य है, जिससे समृद्धि के बाद भी वे सुखी नहीं। कारण यह है कि वे मनुष्य का पूर्ण विचार नहीं कर पाए। हमारे यहाँ पर इस बात का पूरा विचार किया गया है। इसलिए हमने कहा है कि मानव की प्रगति का मतलब शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा—इन चारों की प्रगति है। बहुत बार लोग समझते हैं और इस बात का प्रचार भी किया गया है कि भारतीय संस्कृति तो केवल आत्मा का विचार करती है, बाकी के बारे में वह विचार नहीं करती। यह गलत है। आत्मा का विचार जरूर करते हैं, किन्तु यह सत्य नहीं कि हम शरीर, मन और बुद्धि का विचार नहीं करते। अन्य लोगों ने तो केवल शरीर का विचार किया। इसलिए आत्मा का विचार हमारी विशेषता हो गयी। कालान्तर में इस विशेषता ने लोगों में एकान्तिकता का भ्रम पैदा कर दिया। जिसका विवाह नहीं हुआ वह केवल माँ को प्रेम करता है, किन्तु विवाह के बाद माँ और पत्नी दोनों को प्रेम करता है तथा दोनों के प्रति दायित्व को निभाता है। अब इस व्यक्ति से कोई कहे कि उसने माँ को प्रेम करना छोड़ दिया, तो यह गलत होगा। पत्नी भी, जब तक पुत्र नहीं होता, केवल पति को प्रेम करती है; बाद में पति और पुत्र दोनों को प्रेम करती है। इस अवस्था में कभी-कभी अज्ञान-वश पति-पत्नी पर यह आरोप लगा देता है कि वह तो अब उसकी चिन्ता ही नहीं करती। किन्तु यह आरोप सही नहीं होता। यदि सही है तो पत्नी अपने कर्त्तव्य से विमुख हो गयी है, ऐसा मानना चाहिए।

हमारी आवश्यकताएँ—चारों पुरुषार्थ

इसी प्रकार हम आत्मा की चिन्ता करते हुए शरीर को नहीं भूलते। उपनिषद् में तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि **"नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्य."** —दुर्बल (व्यक्ति) आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार की सूक्ति है कि **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**—अर्थात् शरीर धर्म का प्रथम साधन है। दूसरे लोगों से हमारा यही अन्तर है कि उन्होंने शरीर को

साध्य माना है, परन्तु हमने उसे साधन समझा है। इस नाते से हमने शरीर का विचार किया है। जितनी भौतिक आवश्यकताएँ हैं उनकी पूर्ति का महत्व हमने स्वीकार किया है, परन्तु उन्हें सर्वस्व नहीं माना है। मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसकी विविध कामनाओं, इच्छाओं तथा ईषणाओं की सन्तुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्त्तव्य रूप में हमारे यहाँ चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना रखी गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ का अर्थ उन कर्मों से है जिनसे पुरुषत्व सार्थक हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी कामना मनुष्य में स्वाभाविक होती है और उनके पालन से उसको आनन्द प्राप्त होता है। इन पुरुषार्थों का भी हमने संकलित विचार किया है। यद्यपि मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है, तो भी अकेले उसके सेवन से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। वास्तव में तो अन्य पुरुषार्थों की अवहेलना करने वाला कभी मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। इसके विपरीत शेष पुरुषार्थों को लोक संग्रह के विचार से, निष्काम-भाव से करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन से छूटकर मोक्ष का अधिकारी होगा।

'अर्थ' के अन्तर्गत आज की परिभाषा के अनुसार राजनीति और अर्थ-नीति का समावेश होता है। पुरानी परिभाषा में 'दण्डनीति और वार्ता' अर्थ के अन्तर्गत आती है। 'काम' का सम्बन्ध मानव की विभिन्न कामनाओं की पूर्ति की तृप्ति से है। 'धर्म' में उन सभी नियमों, व्यवस्थाओं, आचरण संहिताओं तथा मूलभूत सिद्धान्तों का अन्तर्भाव होता है जिनसे अर्थ और काम की सिद्धि हो।

इस प्रकार धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है, किन्तु फिर भी तीनों अन्यो-न्याश्रित तथा एक-दूसरे के पूरक और पोषक हैं। धर्म से अर्थ की सिद्धि होती है। यदि व्यापार भी करना हो तो मनुष्य को ईमानदारी, संयम, त्याग, तपस्या, अक्रोध, क्षमा, धृति, सत्य आदि धर्म के लक्षणों का निर्वाह करना पड़ेगा। बिना इन गुणों के पैसा नहीं कमाया जा सकता। साधन के रूप में तो धर्म को मानना ही पड़ेगा।

अमरीका वालों ने कहा—'व्यापार के मामले में ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ नीति है (Honesty is the best business policy)।'

यूरोप के लोगों ने कहा—'ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ नीति है (Honesty is the best policy)।'

हमारा उनसे एक कदम आगे चलकर कहना है कि 'ईमानदारी नीति नहीं अपितु सिद्धान्त है (Honesty is not a policy but a principle)।'

अर्थात् धर्म में हमारा विश्वास केवल उसकी साधनता के कारण नहीं, अपितु स्वयंभू है। राज्य का आधार भी हमने धर्म को माना है। अकेली दण्डनीति राज्य को चला नहीं सकती। समाज में धर्म न हो तो राज्य नहीं टिक सकेगा। काम पुरुषार्थ भी धर्म के सहारे ही सधता है। भोजन उपलब्ध होने के उपरान्त कब, कहाँ, कितना, कैसा और कैसे उसका उपयोग हो यह तो धर्म ही निश्चित करेगा। अन्यथा रोगी ने यदि स्वस्थ व्यक्ति का भोजन किया और स्वस्थ व्यक्ति ने रोगी का तो दोनों का ही अकल्याण होगा। मनुष्य की मनमानी को रोकने, उसके स्वैराचरण पर प्रतिबन्ध लगाने तथा प्रेय के पीछे श्रेय को न भूलने देने में धर्म ही सहायक होता है। अतः हमारे यहाँ धर्म का विशेष महत्व है।

धर्म महत्वपूर्ण है, परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अर्थ के अभाव में धर्म नहीं टिक पाता। एक सुभाषित है कि—

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्, क्षीणाः नराः निष्करुणाः भवन्ति।

अर्थात् भूखा सब पाप कर सकता है। विश्वामित्र जैसे ऋषि ने भी भूख से पीड़ित होकर शरीर धारण करने के लिए चाण्डाल के घर में चोरी करके कुत्ते का जूठा मांस खाया था। अतः हमारे यहाँ आदेश है कि अर्थ का अभाव नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि वह धर्म का द्योतक है। इसी प्रकार दण्डनीति का अभाव अर्थात् अराजकता ही धर्म के लिए हानिकारक होती है। उसमें 'मात्स्य-न्याय' काम करने लगता है। अतः राज्य की स्थापना धर्म के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अर्थ के 'प्रभाव' से अनर्थ की सम्भावना

अर्थ के अभाव के समान ही अर्थ का प्रभाव भी धर्म का घातक होता है। प्रभाव का अर्थ आधिक्यमात्र नहीं है। जब व्यक्ति और समाज में अर्थ साधन न रहकर साध्य बन जाए तथा जीवन की सभी विभूतियाँ अर्थ से ही प्राप्त हों तो वहाँ अर्थ का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है और वह अर्थ-संचय के लिए नानाविध पाप करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के पास अधिक धन हो उसके विलासी बन जाने की सम्भावना रहती है। जिस व्यक्ति को अर्थ के सदुपयोग का ज्ञान नहीं होता वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। जहाँ 'गौण अर्थ' अर्थात् मुद्रा तथा उपभोक्ता वस्तुओं के लिए लगने वाली उत्पादक वस्तुओं का आधिक्य हो वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। इन सभी प्रकार के अर्थ के प्रभावों को बचाना चाहिए। इसके लिए शिक्षा, संस्कार, दैवी सम्पद्युक्त व्यक्तियों का निर्माण तथा अर्थव्यवस्था का उपयुक्त ढाँचा, सभी का सहारा लेना जरूरी होता है।

दण्ड-नीति

अर्थ के अन्तर्गत दण्ड-नीति भी आती है। उसका 'प्रभाव' भी धर्म के लिए हानिकारक होता है। राजा को बताया है कि न तो 'क्षीणदण्ड' होना चाहिए, और न 'उग्रदण्ड' होना चाहिए, अपितु 'मृदुदण्ड' होना चाहिए। यदि राजा दण्ड-नीति का अत्यधिक सहारा लेता है तो प्रजा में विद्रोह की भावना पैदा हो जाती है। जब धर्मभाव के स्थान पर दण्ड ही प्रजा के आचरण का नियामक बन जाए तो दण्डनीति का 'प्रभाव' हो जाता है तथा धर्म का ह्रास होने लगता है। निरंकुश राजाओं के शासन में धर्म की ग्लानि का यह प्रमुख कारण है।

राज्य की निरंकुशता

राज्य जब सब प्रकार की विभूतियों को स्वाधीन कर लेता है तब भी उसका प्रभाव पैदा होकर धर्म की हानि होती है। राज्य की शक्ति और क्षेत्र अमर्यादित हो गए तो सम्पूर्ण जनता राज्यमुखापेक्षी बन जाती है। वहाँ राज्य का प्रभाव हो जाता है। राज्य में कर्तव्य भावना के स्थान पर आसक्ति पैदा हो जाती है। ये सब प्रभाव के लक्षण हैं। इन अवस्थाओं में धर्म को धक्का लगता है। अतः अर्थ का दोनों ही दृष्टि से प्रभाव नहीं होने देना चाहिए।

काम का भी इसी प्रकार विचार किया गया है। काम पुरुषार्थ की ओर कतई ध्यान नहीं दिया गया तो धर्म की हानि होगी। बिना भोजन के धर्म नहीं चल सकता। मन को सन्तोष देने वाली ललितकलाओं, यज्ञ, योगादि कर्मों की अवहेलना हुई तो धर्म का पालन करने वाले संस्कार नहीं होंगे। मानस विकृत रहेगा तथा धर्म की हानि होगी। दूसरी ओर रोम के ग्लटन्स (Gluttons) की भाँति हम पेटू और विलासी बन गए अथवा ययाति की भाँति काम मोहित होकर अपने सभी कर्तव्यों को भूल गए, तो भी धर्म की हानि होगी। अतः धर्म-अविरोधी काम पुरुषार्थ का अवश्य निर्वाह करना चाहिए।

इस प्रकार हमने व्यक्ति के जीवन का पूर्णता के साथ तथा संकलित विचार किया है। उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी का विकास करने का उद्देश्य रखा है। उसकी सभी भूखों को मिटाने की व्यवस्था की है। किन्तु यह ध्यान रखा है कि एक भूख को मिटाने के प्रयत्न में दूसरी भूख न पैदा कर दें अथवा दूसरे के मिटाने का मार्ग बन्द न कर दें। इस हेतु चारों पुरुषार्थों का संकलित विचार हुआ है। यह पूर्ण मानव की, एकात्म मानव की कल्पना है जो हमारा आराध्य तथा हमारी आराधना का साधन दोनों ही है।

(२३ अप्रैल १९६५)

३

व्यष्टि समष्टि में समरसता

मानव केवल एक व्यक्ति मात्र नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय 'व्यक्ति' केवल एकवचन 'मैं' तक सीमित नहीं। उसका अनेक वचन 'हम' से भी अभिन्न सम्बन्ध है। अतः हमें समाज व समष्टि का भी विचार करना होगा।

समाज का निर्माण

समाज मानवों का समूह है, यह तो सामान्य बात है। किन्तु समाज की सृष्टि कैसे हुई ? इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार तत्त्ववेत्ताओं ने रखे हैं। पश्चिम का विचार, जिसके आधार पर वहाँ राजनीतिक व सामाजिक जीवन की सृष्टि हुई है, प्रायः यह है कि समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो व्यक्तियों ने स्वयं मिलकर बनाया है अर्थात् यह व्यक्तियों के समझौते के आधार पर बना है। इसको 'सामाजिक समझौता सिद्धांत' (Social Contract Theory) नाम से जाना जाता है। इसलिए वहाँ

अधिक महत्व व्यक्ति का है जो कि समाज की रचना करता है। पश्चिम के विचारों में कहीं अन्तर है तो इस बात का कि यदि व्यक्ति ने समाज की रचना कर ली तो 'अवशेष शक्ति' (Residuary power) समाज के पास रहे अथवा व्यक्ति के पास ? क्या व्यक्ति को समाज बदलने का अधिकार है ? क्या समाज व्यक्ति के ऊपर तरह-तरह के बन्धन लगाकर अपने प्रति वफादारी की अपेक्षा कर सकता है ? अथवा व्यक्ति इन सब प्रश्नों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र है ?

पश्चिम में यह विचार व विवाद का विषय बना रहा है। किसी ने समाज का पक्ष लिया है और उसमें से संघर्ष की स्थिति पैदा हुई। सत्य तो यह है कि उनका यह विचार कि समाज का निर्माण व्यक्तियों ने किया है, मूलतः गलत है। समाज व्यक्तियों का मिला हुआ समूह है, यह बात सत्य होने पर भी, व्यक्तियों ने समाज को बनाया या व्यक्ति मिले और समाज बन गया, ऐसा कहीं भी नहीं दिखाई देता।

समाज 'स्वयंभू' है

हमारे विचार के अनुसार तो समाज 'स्वयंभू' है। जिस प्रकार से व्यक्ति पैदा होता है उसी प्रकार से समाज भी पैदा होता है। व्यक्ति मिल-कर कभी समाज को नहीं बनाते। यह कोई क्लब नहीं है; 'ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी' (Joint Stock Co.) जैसी सत्ता भी नहीं है या जैसे रजिस्टर्ड सोसाइटियाँ बनती हैं वैसी रजिस्टर्ड सोसाइटी भी नहीं है; जैसे को-आपरेटिव सोसाइटियाँ होती हैं वैसी को-आपरेटिव सोसाइटी भी नहीं है। वास्तव में समाज एक ऐसी सत्ता है जिसकी अपनी आत्मा है, जिसका अपना एक जीवन है। इसलिए यह भी उसी प्रकार से जीवमान सत्ता है जैसे मनुष्य जीवमान सत्ता है। समाज को हमने किसी प्रकार के कृत्रिम संगठन के रूप में स्वीकार नहीं किया। समाज की अपनी हस्ती होती है। समाज के भी व्यक्ति की भाँति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है। इस बात को कुछ पश्चिम के लोग तथा मनोवैज्ञानिक भी अब स्वीकार करने लगे हैं। मग्डूगल (Mcdougal) ने सामूहिक मन (Group Mind) जैसे नये

मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव किया। उसमें उसने इस बात और सत्य को स्वीकार किया कि जैसे मनुष्य अलग रहता है, उसका अपना मस्तिष्क होता है, वैसे ही समूह (Group) का भी मस्तिष्क रहता है।

परन्तु व्यक्तियों की शक्ति का जोड़ मिला करके समूह या समाज की शक्ति नहीं बन जाती। ग्रुप तथा व्यक्ति की शक्ति व बुद्धि का जोड़ मिला दिया जाए और उसमें से समाज की बुद्धि या शक्ति प्रकट हो जाए, ऐसी बात नहीं। ग्रुप की बुद्धि, ग्रुप की भावना, क्रिया शक्ति—समूह की ये शक्तियाँ मूलतः व्यक्ति से भिन्न होती हैं और इसलिए कभी-कभी ऐसे अनुभव आते हैं कि बिलकुल कमजोर-से-कमजोर व्यक्ति, व्यक्तिगत नाते से दुर्बल होते हुए भी समाज के नाते से वह बड़ा पराक्रमी निकल आता है। व्यक्ति के नाते से मनुष्य जिन बातों को सहन कर लेता है, समाज के नाते से वह उन बातों को सहन करने के लिए तैयार नहीं होता। व्यक्ति के नाते से कोई व्यक्ति बहुत अच्छा हो सकता है और समाज के नाते बुरा हो सकता है। इसी प्रकार समाज के नाते कोई अच्छा तथा व्यक्तिगत नाते में बुरा हो सकता है। विचार करने का यह तरीका बहुत महत्वपूर्ण है।

व्यक्ति व समाज की विचार पद्धतियाँ

एक छोटा-सा उदाहरण दे दूँ। एक बार विनोबा जी के साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी की चर्चा हुई और उसमें एक प्रश्न आ गया कि हिन्दू का विचार करने और मुसलमान का विचार करने का तरीका कहाँ भिन्न हो जाता है? गुरुजी ने विनोबा जी से कहा कि अच्छे आदमी सब जगह रहते हैं व बुरे आदमी भी सब जगह रहते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में नेक आदमी निकलते हैं, ईमानदार आदमी निकलते हैं, अच्छे आदमी निकलते हैं, दूसरों की सेवा करने वाले निकलते हैं। उसी प्रकार गुण्डे भी दोनों समाजों में मिल सकते हैं। अर्थात् अच्छे और बुरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसी समाज विशेष की बपौती हैं। किन्तु देखने में यह आता है कि व्यक्ति के नाते गुण्डे, बदमाश तथा बुरे हिन्दू भी जनसमूह के रूप में एकत्र आते हैं

तो वे सदैव अच्छी बातों का ही विचार करते हैं। उनके मन में कोई पाप नहीं आता। परन्तु दूसरी ओर जब १० मुसलमान इकट्ठे होकर बैठते हैं तो वहाँ पर जिस बात व बुराइयों को एक व्यक्ति के नाते एक मुसलमान कभी अच्छा नहीं कहता, वही समूह के नाते उसे अच्छा कहने लगता है। वह कोई और तरीके से विचार करने लगता है। यह सामान्य जीवन का अनुभव है। विनोबा जी ने इस सत्य को तो स्वीकार किया परन्तु इसका कारण क्या है, यह नहीं बताया।

यदि इस ओर ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि व्यक्ति के विचार करने का तरीका और समाज के विचार करने का तरीका—इन दोनों में हमेशा अन्तर रहता है। अर्थात् ये दोनों चीजें हिसाब मिलकर पैदा नहीं होतीं। यदि हजार अच्छे व्यक्ति इकट्ठे हो जायं तो वे उसी प्रकार से विचार करेंगे यह नहीं कहा जा सकता।

दूसरा उदाहरण

हिन्दुस्थान के विद्यार्थी को ले लिया जाय तो आज का विद्यार्थी बड़ा नरम तथा सीधा नजर आयेगा। आज से बीस वर्ष पहले के विद्यार्थी जितनी उठक-पटक करते थे, उसकी तुलना में आज का विद्यार्थी बहुत दुबला-पतला, सभी तरह से नरम दिखाई देता है। किन्तु जब वैसे ४० विद्यार्थी मिल जाएँ तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। फिर तो वे सभी प्रकार की उच्छृंखलता कर सकते हैं। अर्थात् अकेला विद्यार्थी अनुशासनपूर्ण है, परन्तु जब ४० मिल गये तो उनमें अनुशासनहीनता आ जाती है। यह स्थिति क्यों आ जाती है? इसका विचार करना पड़ेगा। जिसे 'माब मेन्टेलिटी' (भीड़ की मानसिकता) कहते हैं यह इण्डिविडुएल मेन्टेलिटी (वैयक्तिक मानसिकता) से भिन्न प्रकार की है। यह माब मेन्टेलिटी का—समूह मानव का—एक छोटा-सा रूप है।

किन्तु जिसे समाज कहते हैं और उसकी जो मानसिकता है, वह तो बहुत समय से बनती रहती है। कुछ लोगों के कथनानुसार जब एक समूह बहुत समय तक इकट्ठा रहता है, तब साथ-साथ रहते हुए वातावरण के

परिणामस्वरूप एकसाथ रहने की आदत पड़ने से उनकी सोचने की, विचार करने की प्रणाली बन जाती है और अपनी पद्धतियाँ निर्माण हो जाती हैं। यह तो सत्य है कि साथ रहने से लोगों में कुछ बातों में एकता हो जाती है— **समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**। किन्तु जिसे राष्ट्र या समाज कहते हैं वह इतने मात्र से नहीं बनता।

बड़े-बड़े राष्ट्र समाप्त क्यों हो गये ?

यह सब जानते हैं कि पुराने-पुराने कुछ राष्ट्र खत्म हो गये। जिस यूनान में एलेक्जेण्डर पैदा हुआ था, जिसमें हेरेडोटस पैदा हुआ था, जिसमें यूलिसिस पैदा हुआ, जिसमें अरस्तु, सुकरात व अफलातून पैदा हुए थे, उस यूनान और आज के यूनान में रहने वालों को मानव की दृष्टि से देखेंगे तो उनकी वंश-परम्परा में तो कोई खलल नहीं पड़ा; क्योंकि कभी ऐसा नहीं हुआ कि वहाँ रहने वाले सब मर गये या यूनान उजड़ गया। पुराने यूनान के मानव की पिता-पुत्र परम्परा समाप्त नहीं हुई। वहाँ मानव खत्म नहीं हुए। हो सकता है आज जो यूनान में रहते हैं उनके पिता-पितामह की पीढ़ियाँ देखी जाएँ तो वे २५०-५०० पीढ़ी पुराने यूनानियों के साथ जुड़ जायेंगे। किन्तु इतना होने पर भी आज पुराना यूनान राष्ट्र नहीं है। मिस्र का पुराना राष्ट्र खत्म हो गया। वहाँ एक नया राष्ट्र है। यह कैसे हो गया ? दूसरी ओर यहूदियों को लें। वे सदियों तक भिन्न देशों के लोगों के साथ रहे। पर संसर्ग से वे उनके मानस के साथ एकात्म नहीं हुए। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र के अस्तित्व का कारण एक साथ रहना नहीं, अपितु कोई दूसरी चीज है।

राष्ट्र किसे कहें ?

राष्ट्र का अस्तित्व उसके नागरिकों के जीवन का ध्येयभूत भाव है। जब एक मानव समुदाय के समक्ष एक मिशन, विचार या आदर्श रहता है और वह समुदाय किसी भूमि विशेष को मातृभाव से देखता है तो वह राष्ट्र कहलाता है। इनमें से एक का भी अभाव रहा तो राष्ट्र नहीं बनेगा।

जैसे शरीर में 'आत्मा' नाम की चीज है। आत्मा के कारण व्यक्ति रहता है। जिस प्रकार आत्मा और शरीर का सम्बन्ध छूटने पर हम कहते हैं कि वह व्यक्ति खत्म हो गया, उसी प्रकार से विचार या मूलभूत सिद्धान्त होते हैं। यद्यपि हमारे यहाँ माना गया है कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है, परन्तु पुनर्जन्म लेने वाले तथा इस व्यक्ति में फर्क रहता है। दोनों को हम अलग-अलग मानते हैं। पुनर्जन्म उसी व्यक्ति का होता होगा, परन्तु तब वह व्यक्ति दूसरा होता है। यह व्यक्ति यदि खत्म हो गया तो इसमें भी खत्म होने वाली मुख्य बात यह है कि इसमें आत्मा नहीं रही। शरीर की अन्य चीजों में भी परिवर्तन होते हैं। बच्चे से बूढ़े होने तक कितना परिवर्तन हो जाता है ? शरीर-शास्त्रियों का तो कहना है कि हमारे शरीर का जो प्रत्येक कोश है वह भी कुछ वर्ष में पूर्णरूपेण बदल जाता है। इसमें तरह-तरह के परिवर्तन हो जाते हैं। परन्तु चूँकि यह आत्मा बनी रहती है, इसलिए आत्मा के कारण शरीर चलता रहता है। इसे तर्क-शास्त्र में 'मान्यता का सिद्धान्त' कहते हैं। शायद उस मान्यता के कारण वह चीज चली आती है। इसके सम्बन्ध में एक रुचिपूर्ण उदाहरण लोग नाई के उस्तरे का दिया करते हैं।

कहते हैं कि एक बार एक नाई ने हजामत बनाते समय बताया कि उसका उस्तरा ६० वर्ष पुराना है। उसके पिता उसी उस्तरे से हजामत बनाते थे। ग्राहक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे यह देखकर तो और भी आश्चर्य हुआ कि उस्तरे का बेंटा तो खूब चमक रहा है। उसने पूछा, "तुम्हारे उस्तरे का बेंटा तो बड़ा चमक रहा है ? ६० वर्ष से इसकी चमक कैसे टिका कर रखी है ?" इस पर नाई ने सहजभाव से उत्तर दिया, "साठ बरस चमक कैसे टिक सकती है ? बेंटा तो अभी छः महीने पहले लगाया है।" इस पर ग्राहक ने पूछा, "और उस्तरे का छुरा कब का है ?" नाई बोला, "इसे बदलवाये तीन वर्ष हो गये।" अर्थात् कभी छुरा बदल गया कभी बेंटा, पर उस्तरा पुराना ही रहा। उसकी मान्यता बनी रही। इसी प्रकार व्यक्ति की अनेक बातें बदल जाती हैं फिर भी उसकी मान्यता बनी रहती है।

राष्ट्र की आत्मा—चिति

उसी प्रकार राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है। उसका एक शास्त्रीय नाम है। "सिद्धान्त और नीति" में इसे 'चिति' कहा गया है। मग्डूगल के अनुसार किसी भी समूह की कोई मूल प्रकृति होती है। वैसे ही 'चिति' किसी समाज की वह प्रकृति है जो जन्मजात है तथा जो ऐतिहासिक कारणों से नहीं बनी।

मनुष्य के व्यक्तित्व व आत्मा, व्यक्तित्व तथा चरित्र तथा चरित्र व आत्मा—इस सबमें अन्तर रहता है। व्यक्ति जीवन भर में जितने कर्म करता है, जितने संस्कार उस पर होते हैं या जो विचार आते हैं, उन सबका उस पर एक संकलित परिणाम होता है। इस संकलित परिणाम से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। परन्तु आत्मा में कोई चीज जुड़ती नहीं। उसी प्रकार राष्ट्र की संस्कृति में ऐतिहासिक कारणों तथा वातावरण से उत्पन्न स्थिति के सामूहिक परिणामों से बहुत चीजें जुड़ जाती हैं। समाज के संसर्ग से, समाज के प्रयत्नों से, समाज के इतिहास के परिणामस्वरूप जिन चीजों का वे निर्माण करते हैं और जिन्हें वे अच्छा व गौरवदायी समझते हैं वे सब चीजें संस्कृति के अन्तर्गत तो आ जाती हैं परन्तु चिति के अन्तर्गत नहीं आतीं। चिति तो मूलभूत होती है। चिति को लेकर तो प्रत्येक समाज पैदा होता है और उस समाज की संस्कृति की दिशा चिति निर्धारित करती है अर्थात् जो चीज चिति के अनुकूल होती है वह संस्कृति में सम्मिलित कर ली जाती है।

उदाहरण के तौर पर हमारे यहाँ महाभारत हुआ, जिसमें कौरवों की पराजय व पाण्डवों की विजय हुई। परन्तु पाण्डवों की विजय को हमने क्यों धर्म कहा ? व कौरवों को क्यों नहीं कहा ? या यह क्यों नहीं कहा कि यह तो सीधी-सादी राज्य की लड़ाई है ? लंका में जब राम लड़ाई करने गये तथा विभीषण रावण का साथ छोड़कर राम के साथ आया तो उस समय विभीषण ने जो कुछ किया उसे तो वास्तव में देशद्रोह कहना चाहिए। परन्तु हममें से उसे कोई देशद्रोह नहीं कहता। विभीषण को तो राजद्रोह करने के बाद भी सब अच्छा कहते हैं। उसने देशद्रोह किया, राज-द्रोह तथा भ्रातृद्रोह किया। भाई को, राजा को छोड़ करके वही

काम किया जो जयचन्द ने किया था। उसको क्विज़लिंग (द्वितीय महा-युद्ध में नार्वे का देशद्रोही नागरिक) कहना चाहिए था। पर विभीषण को कोई क्विजलिंग नहीं कहता। उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं कि उसने ठीक काम किया तथा रावण ने जो कुछ किया उसके लिए हमारे मन में अनादर रहता है। यह क्यों होता है ? इसके पीछे कोई राजनीतिक कारण नहीं है। युधिष्ठिर के लिए सम्मान और दुर्योधन के लिए अनादर राजनीतिक कारणों से नहीं है। कृष्ण भगवान ने कंस को पछाड़ दिया, मामा की हत्या की, उस समय के राजा को हटाया। परन्तु कृष्ण को हम भगवान का अवतार मानते हैं और कंस को हम असुर कहते हैं। यह क्यों ? इसका निर्णायक यदि कुछ है तो वह यह कि हमारे मन की प्रकृति या चिति थी उसके अनुकूल जो-जो हुआ उसे हम संस्कृति में जोड़ते गये। वे तो हमारे ऊपर संस्कार करने वाली चीजें हैं और उसके प्रतिकूल चलने वाली चीजों को हमने विकृति कहा। जो हमारे अनुकूल नहीं हो सकतीं हमने उन चीजों को छोड़ दिया। उस इतिहास को हमने अपना नहीं माना। 'चिति' वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। यही राष्ट्र की आत्मा है। इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र खड़ा होता है और यही आत्मा राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण द्वारा प्रकट होती है।

व्यक्ति राष्ट्र का उपकरण भी

व्यक्ति भी इस राष्ट्र की आत्मा को प्रकट करने का एक साधन है। इस प्रकार व्यक्ति अपने स्वयं के अतिरिक्त राष्ट्र का भी प्रतिनिधित्व करता है। इतना ही नहीं, अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए राष्ट्र जितनी संस्थाओं को जन्म देता है, उनका उपकरण भी व्यक्ति ही है। और इसलिए वह उनका भी प्रतिनिधि है। राष्ट्र में व्यापक जो समष्टियाँ हैं, जैसे मानव, उनका भी प्रतिनिधित्व व्यक्तित्व ही करता है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का बहुमुखी व्यक्तित्व है परन्तु उनमें पारस्परिक खिंचाव या संघर्ष नहीं अपितु एकात्मता, समन्वय एवं सामंजस्य रहता है। इस

तथ्य को हम समझें। इस सामंजस्य के नियमों का आकलन और उसकी व्यवस्था ही मानव के आदर्शों के बीच की विसंगति को दूर कर उसे सुख और शान्ति दे सकती है तथा उसका विकास कर सकती है।

'संस्था' द्वारा राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति

जीवशास्त्री डार्विन के सिद्धान्त मानने वालों के अनुसार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में प्राणी को जिन्दा रहने के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है, उसी प्रकार के अंग बनते चले जाते हैं। परन्तु हमारे यहाँ इसे दूसरे रूप में कहा कि प्राण की शक्ति के सहारे मनुष्य की आत्मा अपने लिए जितने अंगों की जरूरत समझती है उसका निर्माण करती है। जैसे शरीर में अंग निर्माण यह आत्मा करती है वैसे ही राष्ट्र में भी ऐसे बहुत से अंग राष्ट्र की आवश्यकता को पूर्ण करने लिए निर्माण होते हैं। यदि कारखाना खोल लिया तो जिस प्रकार अपने काम का निर्वाह करने के लिए उसमें बहुत, तरह-तरह के विभाग होते हैं—कहीं मशीन लगाई जाती है; कहीं भवन बनाया जाता है, कहीं बिक्री का काम किसी की तरफ लगाया जाता है, वहाँ जैसे विभाग पैदा होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र भी अनेक प्रकार के विभाग जैसी चीजें पैदा करता है, जिन्हें हम 'संस्थाएँ' कहते हैं। संस्थाओं का जन्म राष्ट्र अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए करता है। कुटुम्ब, जाति, वर्ण, श्रेणी पुराने जमाने में अपने यहाँ थीं और आज श्रमिक संगठन (ट्रेड यूनियन) व गिल्ड या पूग आदि इस प्रकार की विभिन्न संस्थाएं हैं। सम्पत्ति भी एक संस्था है। विवाह भी एक संस्था है।

अपने यहाँ वर्णन है कि पुराने जमाने में विवाह होते ही नहीं थे। बाद में एक ऋषि ने आकर इस विवाह पद्धति का निर्माण किया। यह एक संस्था उन्होंने बनायी। इस तरह से पहले हमारे यहाँ गुरुकुल की एक संस्था चलती थी। ऋषिकुल की भी एक संस्था चलती थी।

'राज्य' संस्था का निर्माण

इसी प्रकार से अनेक संस्थाओं में राज्य भी एक संस्था है। इसका निर्माण भी राष्ट्र करता है। पश्चिम में जो गड़बड़ आ गई उसका कारण

यह है कि उन्होंने राज्य व राष्ट्र को एक चीज समझा। राज्य व राष्ट्र वास्तव में एक नहीं हैं। राज्य का निर्माण हमारे यहाँ सामाजिक समझौते के अनुसार हुआ। पहले राजा नहीं था। महाभारत में वर्णन है कि कृतयुग में न राज्य था, न राजा था; न दण्ड था; न दण्ड देने वाला; सब प्रजा धर्म के आधार पर एक-दूसरे की रक्षा करती थी।

न राज्यं न राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकाः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम् ।।

किन्तु बाद में अव्यवस्था आई, लोभ आया, क्रोध आया, धर्म की ग्लानि हुई और 'मात्स्यन्याय' प्रारम्भ हो गया। सारे ऋषि घबराये कि कैसे काम चलेगा? सभी ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्माजी ने स्वयं रचा हुआ एक ग्रन्थ इन ऋषियों को दिया जो 'दण्डनीति' या 'राज्यशास्त्र' के सम्बन्ध का ग्रन्थ था। उन्होंने साथ-साथ आकर मनु से कहा कि तुम राजा हो जाओ। परन्तु मनु ने कहा मैं तो राजा नहीं होता क्योंकि राजा बनने के बाद मुझे दण्ड करना पड़ेगा और कुछ लोगों को मारना होगा, कुछ को पीटना होगा, कुछ को जेल में डालना होगा व अन्य कई झंझट करने पड़ेंगे। मैं ये पाप क्यों करूँ? इस पर ब्रह्माजी ने कहा "ऐसी कुछ बात नहीं है। यह पाप नहीं बल्कि बाकी के लोग धर्म का काम करें इसके लिए तुम यह काम करोगे। अतः यह भी धर्म ही गिना जायेगा। इतना ही नहीं, प्रजा के जितने कर्म होंगे उन कर्मों का एक हिस्सा तुम्हें मिल जायेगा और इसलिए ये जितना धर्म करेंगे उसका एक हिस्सा स्वयं मिल जायेगा।" इसमें बताया तो नहीं पर मैं समझता हूँ कि यदि प्रजा पाप या अधर्म करेगी और राजा उसे रोक नहीं सके तो उस पाप का हिस्सा भी राजा को मिलना चाहिए। ऐसा तो नहीं हो सकता कि "मीठा-मीठा गप्प और कड़ुवा-कड़ुवा थू।" दोनों ही मिलने चाहिएँ। राज्य के ऊपर यह समझौता सिद्धान्त लागू हो सकता है परन्तु राष्ट्र के ऊपर नहीं। पश्चिम में कुछ उल्टा हुआ। समाज तो उनकी दृष्टि में समझौते में से पैदा हुआ, परन्तु राजा दैवी अधिकार के आधार पर सीधा ईश्वर का प्रतिनिधि बन गया। यह उल्टी बात है। हमारे यहाँ राजा को चाहे आदि समय में से पैदा हुआ

माना गया, परन्तु समाज को तो 'स्वयंभू' माना है। राज्य उसकी एक संस्था के नाते से है।

व्यक्ति एकाँगी नहीं, वह बहुरंगी है

राज्य के समान और संस्थाएँ भी आवश्यकतानुसार समय-समय पर पैदा होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से प्रत्येक संस्था का अंग रहता है। यथा कुटुम्ब का मैं अंग हूँ; जाति व्यवस्था हो तो उसका भी अंग हूँ; मेरा कोई धन्धा है तो उसका भी मैं एक अंग हूँ; इस समाज का भी मैं एक अंग हूँ और इस समाज से आगे यदि पूर्ण मानव का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ। और मानव के आगे बढ़ करके यदि हम इस चराचर जगत का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति नाम की जो चीज है वह एकांगी नहीं बल्कि बहुरंगी है। यह एक का नहीं अनेक का अंग है। परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि अनेक अंगों वाला होकर भी परस्पर सहयोग, समन्वय व पूरकता और एकात्मकता के साथ चल सकता है। यह व्यक्ति को कुछ गुण दिया हुआ है।

जो व्यक्ति इस गुण का ठीक प्रकार से उपयोग कर सकता है वह व्यक्ति सुखी व जो इस गुण का ठीक तरह से उपयोग न कर सके वह दुःखी। उसका विकास ठीक नहीं होगा। उदाहरण लें तो एक व्यक्ति घर में अपनी माँ का बेटा होता है; अपनी पत्नी का पति होता है; अपनी बहन का भाई होता है; अपने पुत्र का पिता होता है। एक व्यक्ति है परन्तु वह पिता भी है, पुत्र भी है, भाई भी है, पति भी है। इतने रिश्ते आ गये। व्यक्ति को इन सब नाते-रिश्तों को बड़ी चतुराई के साथ निभाना होता है। जहाँ ढंग से नहीं निभता वहाँ झगड़ा होता है। यदि बहन का पक्ष लेता है तो पत्नी कहती है कि तुम अपनी बहन का पक्ष लेते हो। नन्द-भौजाई का झगड़ा यहीं से पैदा होता है। सास-बहू का झगड़ा इसमें से पैदा होता है। इस झगड़े में पति-बेटे की मुसीबत होती है। वह परेशान रहता है। क्योंकि माता का प्रेम व पत्नी के प्रति जिम्मेदारी व प्रेम—इसमें संघर्ष आता है। इसमें संघर्ष न आवे अर्थात् वह इसे ठीक प्रकार से निभाये—ऐसा जब हो सकेगा तो हम कह सकेंगे कि उसके परिणामस्वरूप व्यक्तित्व का जो विकास होगा वह समन्वित होगा।

समाज और व्यक्ति में संघर्ष नहीं

हम व्यक्ति के विभिन्न रूपों तथा समाज की अनेक संस्थाओं में स्थायी संघर्ष या हितविरोध नहीं मानते। यदि कहीं ऐसा दीखता है तो वह विकृति का द्योतक है; प्रकृति अथवा संस्कृति का नहीं। पश्चिम में कुछ लोगों ने माना कि जीवन का विकास इस मूलभूत संघर्ष में से हुआ है। इसलिए वे समझते हैं कि राज्य व व्यक्ति में हमेशा संघर्ष की स्थिति रहती है। इसी आधार पर उन्होंने वर्ग संघर्ष की कल्पना भी की।

समाज में वर्ग नहीं होते हैं। अपने यहाँ भी जातियाँ बनीं, किन्तु एक जाति व दूसरी जाति में संघर्ष है, उनका यह मूलभूत विचार हमने नहीं माना। हमारे वर्णों की कल्पना भी विराट् पुरुष के चारों अंगों से की है। विराट पुरुष के सिर में से ब्राह्मण पैदा हुआ; बाहुओं में से क्षत्रिय पैदा हुआ, उसके उरु में से वैश्य पैदा हुआ; और पैर से शूद्र हुए। यह जो कल्पना आई उसका विचार करें कि पैर, हाथ, सिर व उरु इनके बीच कोई संघर्ष है क्या? अगर संघर्ष मानकर चलें तो शरीर चलेगा ही नहीं। क्योंकि शरीर अथवा पैर में व सिर में संघर्ष होता ही नहीं। संघर्ष का प्रश्न ही नहीं, बल्कि दोनों में कोई चीज यदि है तो 'एकात्मता' है। ये अंग एक-दूसरे के पूरक ही नहीं, उनमें पूर्ण अभिन्नता एवं आत्मीयता है।

समाज की संस्थाओं में विभिन्न कारणों से कभी विकार आ सकता है। समाज का प्राण दुर्बल हो गया हो तो सब अंग दुर्बल और निस्तेज हो जायेंगे। कभी अंग विशेष में खराबी भी आ सकती है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार संस्थाओं की उपादेयता और आवश्यकता में भी अन्तर आ सकता है। आज व्यवहार में संस्था कैसी है और कैसी होनी चाहिए, इसका विचार भी आवश्यक है। परस्पर पूरकता तथा एकात्मता ही व्यवहार का मापदण्ड हो सकते हैं। कुटुम्ब, जाति, श्रेणी, पंचायत, जनपद, राज्य आदि सब संस्थाएँ राष्ट्र तथा मानव के अंगभूत हैं। उनमें

एकात्मभाव चाहिए, वे परस्पर पूरक हैं, परस्परावलम्बी हैं। इसलिए उनमें परस्परानुकूलता की वृत्ति उत्पन्न होनी चाहिए, परस्पर संघर्ष या विरोध की नहीं।

राज्य ही सब कुछ नहीं

विभिन्न संस्थाओं में राज्य एक महत्वपूर्ण संस्था है किन्तु सर्वोपरि नहीं। आज विश्व में जो समस्याएँ पैदा हो रही हैं उनका एक प्रमुख कारण यह भी है कि प्राय: सभी राज्य और समाज में समीकरण करके चलते हैं। वे तत्वत: अथवा व्यवहार में तो निश्चित ही राज्य को समाज का एकमेव प्रतिनिधि मानते हैं। दूसरी संस्थाएं इतनी नगण्य हो गई हैं तथा राज्य इतना प्रभावी हो गया है कि सम्पूर्ण शक्ति उसमें केन्द्रित होकर एकाधिकार बढ़ता जा रहा है।

हमने राज्य को ही राष्ट्र का एकमात्र प्रतिनिधि नहीं माना। इसलिए हमारे यहाँ यह हुआ कि राज्य समाप्त होने के बाद भी हमारा राष्ट्र समाप्त नहीं हुआ। ईरान में राज्य समाप्त होते ही ईरान का राष्ट्र समाप्त हो गया। किन्तु हमारे यहाँ राज्य को कई बार गुलाम बनने का मौका आया; राजनीतिक दृष्टि से दिल्ली के तख्त के ऊपर कभी पठान बैठे, कभी तुर्क बैठे, कभी मुगल बैठे, कभी अंग्रेज बैठे। किन्तु इसके बाद भी हमारा राष्ट्र जिन्दा रहा, क्योंकि हमारे जीवन का केन्द्र राज्य नहीं था। यदि राज्य को जीवन केन्द्र मानकर चले होते तो हम समाप्त हो गये होते। जैसा पुराने जमाने की बहुत-सी कथाओं में आता है कि कोई राक्षस था। उसके प्राण किसी तोते के अन्दर थे। इसलिए राक्षस को मारने के लिए तोते की गर्दन मरोड़ दी और राक्षस खत्म हो गया। उसी प्रकार से जिन लोगों के प्राण राज्य में थे वहाँ राज्य खत्म होते ही राष्ट्र का प्राण भी नि:शेष हो गया। किन्तु जिन राष्ट्रों ने यह माना, जैसा हमने माना, कि हमारा प्राण राज्य में नहीं है, वहाँ राज्य जाने के बाद भी राष्ट्र नहीं गया।

राज्य के प्रति हम उदासीन रहे

इस धारणा के कुछ दुष्परिणाम भी हुए हैं। स्व० बाबासाहब अम्बेडकर ने बताया कि हमारे यहाँ पंचायतें इतनी मजबूत थीं कि हम दिल्ली के तख्त के सम्बन्ध में उदासीन हो गये। राज्य के प्रति जितना सचेष्ट व सतर्क हमें रहना चाहिए था हम रहे नहीं, क्योंकि हमें लगा कि हमारा प्राण उसमें नहीं है। परन्तु हम भूल गये कि चाहे वहाँ प्राण नहीं होगा परन्तु उसका इतना महत्व तो जरूर है जितना महत्व शरीर के किसी अन्य अंग का होता है। शरीर का एक बाल काट लीजिये तो नुकसान नहीं होता, काटा जा सकता है। परन्तु बाल काटते-काटते थोड़ी-सी खाल भी काट ली और साथ में सिर को भी काटने का प्रयत्न किया तो नुकसान हो जाएगा। इसलिए शरीर की तो रक्षा करनी ही पड़ेगी। शरीर में ये भिन्न-भिन्न अंग सर्वस्व नहीं होंगे, किन्तु महत्व के हैं। इस दृष्टि से राज्य को महत्व देना चाहिए था और ऐसे लोग पैदा हुए जिन्होंने ध्यान दिया। आखिर छत्रपति शिवाजी इसीलिए हुए व स्वामी रामदास ने छत्रपति शिवाजी महाराज को इसीलिए कहा कि 'अपना राज्य चलाओ'। धर्म में पूर्ण शक्ति है, वह महत्व की चीज है। इसलिए धर्म को लेकर के जैसे वे स्वयं धर्मप्रचार में लगे थे, उसी प्रकार वे छत्रपति शिवाजी महाराज को भी संन्यासी बना देते। किन्तु उन्होंने ऐसा न करते हुए राज्य प्राप्ति की ही प्रेरणा दी। कारण राज्य भी एक महत्वपूर्ण संस्था है। किन्तु महत्व की बात मानना एक चीज है तथा उसे सर्वोपरि मानकर चलना दूसरी बात है। राज्य सर्वोपरि नहीं है। किन्तु प्रश्न पैदा होता है कि यदि राज्य सर्वोपरि नहीं तो सर्वोपरि क्या है? कौन-सी चीज सर्वोपरि है इसका विचार करें। इसके लिए, राज्य की उत्पत्ति क्यों हुई—इसका विचार करना होगा।

धर्म ही हमारा प्राण है

यह तो सभी मानते हैं कि राज्य का कोई न कोई लक्ष्य होना चाहिए, उसका आदर्श होना चाहिए। अत: सर्वोपरिता राज्य की नहीं, आदर्श की

होनी चाहिए। पहरेदार खजाने से बड़ा नहीं हो सकता; कोष की तुलना में कोषाध्यक्ष छोटा ही माना जायेगा। राज्य राष्ट्र की रक्षा के लिए पैदा होता है; राष्ट्र के आदर्शों को व्यवहार में लाने या लाने की अवस्था पैदा करने तथा बनाये रखने के लिए पैदा होता है। राष्ट्र का आदर्श अर्थात् 'चिति'। चिति गहन है। उसकी अभिव्यक्ति और व्यवहार के नियमों को ही उस राष्ट्र का धर्म कहते हैं। अतः महत्ता यदि किसी चीज की है तो वह 'धर्म' की है। यदि हमारा प्राण कहीं है तो वह धर्म में है। धर्म गया कि प्राण गया। इसलिए जिसने धर्म छोड़ा, वह राष्ट्र से च्युत हो गया। उसका सब कुछ चला गया।

'धर्म', रिलिजन या मजहब नहीं होता

धर्म का सम्बन्ध केवल मन्दिर, मस्जिद से नहीं है। उपासना, व्यक्ति-धर्म का एक अंग हो सकती है, किन्तु धर्म तो व्यापक है। मन्दिर, मस्जिद लोगों में धर्माचरण की शिक्षा का प्रभावी माध्यम भी रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार विद्यालय विद्या नहीं है वैसे ही मन्दिर धर्म से भिन्न हैं। हो सकता है कोई बालक रोज पाठशाला जाय, फिर भी अपढ़ रह जाय। उसी प्रकार प्रतिदिन मस्जिद या मन्दिर में जाने वाला व्यक्ति भी धर्महीन हो सकता है। मन्दिर, मस्जिद में जाना—मत, मजहब, रिलिजन है। रिलिजन को बहुत बार लोगों ने धर्म मान लिया। अंग्रेजी में अनुवाद के कारण हमारी जो बहुत-सी हानियाँ हुई हैं, उनमें से एक बहुत बड़ी हानि यह हुई है।

एक ओर तो हम रिलिजन को धर्म के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग करने लगे तथा दूसरी ओर अपने धर्म और जीवन का अज्ञान तथा यूरोपीय जीवन का अधिकाधिक ज्ञान हमारी शिक्षा का विषय बन गया। फलतः रिलिजन के जितने सहचारीभाव हैं वे हमने धर्म पर आरोपित कर दिये। यदि यूरोप में रिलिजन के नाम पर अन्याय और अत्याचार, संघर्ष और युद्ध हुए तो वे सब हमारे यहाँ भी धर्म के खाते में नामे (Debit) में चढ़ा लिये गये। हमें लगा कि धर्म पर भी लड़ाई हो सकती है। परन्तु धर्म की लड़ाई दूसरी है और रिलिजन की लड़ाई दूसरी होती है। रिलिजन

यानी मत, पंथ, मजहब, वह धर्म नहीं। धर्म तो एक व्यापक चीज है। यह जीवन के सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाली चीज है। उससे समाज की धारणा होती है। उससे आगे बढ़ें तो सृष्टि की धारणा होती है। यह धारणा करने वाली जो चीज है, वह 'धर्म' है।

धर्म के तत्व सनातन और सर्वव्यापी

धर्म के मूलभूत तत्व सनातन और सर्वव्यापी हैं। हाँ, उनका व्यवहार देश, काल परिस्थिति सापेक्ष होता है। मनुष्य को शरीर धारण के लिए भोजन करना चाहिए, यह नियम शाश्वत है। किन्तु व्यक्ति विशेष को कब, कैसा और कितना भोजन करना चाहिए, यह परिस्थिति सापेक्ष होगा। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि भोजन नहीं चाहिए। किसी आदमी को टॉयफॉयड हो गया और हमने कहा कि शरीर धारण करने के लिए भोजन चाहिए और उसे भोजन करा दिया तो कठिनाई पैदा हो जायेगी। उस समय 'भोजन नहीं चाहिए' यह नियम लागू करना पड़ेगा। उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जायेगा। इस प्रकार धर्म के जो नियम हैं उनका व्यवहार समय के साथ, युग के साथ बदलता रहता है। इसलिए देश काल के आधार के ऊपर इन नियमों का पालन करना चाहिए।

तात्विक आधार पर बने नियम धार्मिक होते हैं

कुछ नियम थोड़ी देर के लिए होते हैं और कुछ नियम बड़ी देर के लिए बने हुए होते हैं। यहाँ के कुछ नियम हैं जिनके आधार पर हम चल रहे हैं। इनमें से एक नियम यह है कि मैं बोलूँ और आप शान्त रहकर सुनें। आप यदि इस नियम का उल्लंघन करने लगें व आपस में बोलने लगें या आप भी खड़े होकर बोलने लगें तो कहना होगा कि हम अपने धर्म से च्युत हो जायेंगे, धर्म का पालन नहीं करेंगे, हमारी धारणा नहीं होगी, हमारा काम नहीं चलेगा, कठिनाई हो जायेगी। अतः हमारा धर्म है उस नियम का पालन करना जिससे इस सभा की धारणा होती है, सभा टिकती है, सभा चलती है। परन्तु ये नियम तब तक लागू हैं जब तक कि सभा है।

सभा समाप्त होने पर, घर जाकर भी आपने नहीं बोला तो कठिनाई पैदा हो जायेगी। घर के लोगों को डाक्टर बुलाना पड़ेगा। घर जाकर वहाँ के नियमों का पालन करना आवश्यक है। नियमों की सम्पूर्ण संहिता और उसके तात्विक आधार का नाम धर्म है। ये नियम मनमाने नहीं हो सकते। उनसे उस सत्ता की धारणा होनी चाहिए जिसके लिए वे बने हैं तथा वे दूसरी सत्ता के अविरोधी एवं पोषक होने चाहिए। यदि हम कोई रजिस्टर्ड सोसायटी बनायें तो हमें यह अधिकार और स्वतन्त्रता है कि उस सोसाइटी के उपनियम बनाएँ। पर ये उपनियम सोसाइटी के नियमों और विधान के प्रतिकूल नहीं हो सकते। सोसाइटी के नियम और विधान रजिस्टर्ड सोसाइटीज एक्ट के विरुद्ध नहीं हो सकते। एक्ट को संविधान के अनुकूल होना आवश्यक है। अर्थात संविधान वह कानून है जिसके अनुसार देश के सभी कानून बनने चाहिए। जर्मनी में संविधान को बेसिक लॉ कहते हैं। किन्तु क्या संविधान भी किन्हीं नियमों का पालन करता है? अथवा वह संविधान सभा की मनमानी का द्योतक है? गम्भीरता से विचार करें तो पता चलेगा कि संविधान को भी कुछ आधारभूत प्राकृतिक नियमों का अनुकरण करना पड़ता है। संविधान राष्ट्र की धारणा के लिए है। यदि वह राष्ट्र की धारणा के स्थान पर उसकी हानि करने वाला हो तो वह गलत होगा, उसका संशोधन करना होगा। क्या यह संशोधन भी मनमाना अथवा दो-तिहाई बहुमत की इच्छा पर निर्भर करेगा? आजकल बहुमत की बहुत चर्चा की जाती है। क्या बहुमत सब कुछ कर सकता है? क्या जनता, जिसे प्रभुसत्तासम्पन्न कहा जाता है, सब कुछ कर सकती है? और वह न्याय होना चाहिए? नहीं। पश्चिम में पहले राजा सॉवरेन होता था। बाद में जब राजाओं के विरुद्ध विद्रोह हुआ तो जनता की सॉवरेनिटी का सिद्धान्त रखा गया। किन्तु हमारे यहाँ जनता भी सॉवरेन नहीं है। यहाँ राजा सॉवरेन नहीं है। पार्लियामेण्ट सब कुछ नहीं कर सकती। इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट के बारे में कहते हैं कि वहाँ की पार्लियामेण्ट सॉवरेन है और सब कुछ कर सकती है। उन्होंने कहा कि "वह स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने के अतिरिक्त अन्य सब कुछ कर सकती है", परन्तु

क्या इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट यह नियम बना सकती है कि इंग्लैण्ड का प्रत्येक व्यक्ति सिर के बल चले? नहीं बना सकती। क्या इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट यह कानून बना सकती है कि इंग्लैण्ड का हर व्यक्ति रोज पुलिस थाने में आकर हाजिरी लिखावे? नहीं, यह भी नहीं कर सकती! इंग्लैण्ड का कोई लिखा हुआ संविधान नहीं है। वे अपने यहाँ परम्परा को अत्यधिक महत्व देते हैं। पर क्या उनकी परम्पराओं में परिवर्तन नहीं हुआ? हुआ है! उनका आधार क्या है? तो जो परम्परा इंग्लैण्ड के विकास में बाधक हुई उसको उन्होंने छोड़ दिया। जो सहायक हुई वह पुष्ट होती गई।

परम्पराओं का महत्व ब्रिटेन में ही नहीं, हर देश में होता है। हमारे यहाँ लिखित संविधान है पर यह लिखित संविधान भी देश की परम्पराओं का विरोध करके नहीं चल सकता। अगर उन परम्पराओं का विरोध करके चलता है तो वह संविधान धर्मानुसार नहीं बना। धर्मानुसार वह संविधान होगा जिससे राष्ट्र की धारणा हो। धारणा धर्म से होती है। इसलिए हमारे यहाँ धर्म सर्वप्रभुसत्तासम्पन्न है। अन्य सभी संस्थायें, सत्तायें और इकाइयाँ उसी से शक्ति ग्रहण करती हैं।

संविधान की एक तात्विक भूल

यदि भारत के वर्तमान संविधान का विचार राष्ट्र की धारणा के मापदण्ड से करें तो हमें पता चलेगा कि उसमें संशोधन की आवश्यकता है। हमारा एक राष्ट्र है, हम एक जन हैं। इसलिए हमने भाषा, प्रान्त, जाति, मजहब आदि के आधार पर मूलभूत अधिकारों में किसी भी भेद-भाव को स्वीकार नहीं किया। हमने एक नागरिकता का सिद्धान्त माना है। अलग-अलग प्रान्त होने के बावजूद भी अमेरिका की भाँति यहाँ राज्य और संघ की अलग-अलग नागरिकता नहीं है। हम सब भारत के नागरिक हैं। इसी प्रकार हमने राज्यों को संघ से निकल जाने का अधिकार नहीं दिया है। इतना ही नहीं तो इन राज्यों की सीमाएँ और नाम क्या हों? यह निर्णय संसद ही कर सकती है, राज्यों के विधानमण्डल नहीं। ये सब

ठीक प्रावधान हैं। भारत की राष्ट्रीयता और परम्परा के अनुकूल हैं। किन्तु इतना होने पर भी हमने अपने संविधान को संघात्मक बनाया है। अर्थात् जो बात व्यवहार में रखी है वह तत्वतः अमान्य कर दी है। संघात्मक प्रणाली में इकाइयों की निजी सत्ता और प्रभुता होती है। वे एक समझौते के अनुसार (यहाँ पर संविधान वह समझौता है) अपने अधिकार केन्द्र या संघ को सौंप देती हैं। हो सकता है कि ये इकाइयाँ अपने सम्पूर्ण अधिकार केन्द्र को सौंप दें, इस तरह संघ अधिक अधिकार सम्पन्न हो सकता है। किन्तु उसके सभी अधिकार उसे मिले हुए तथा सौंपे हुए रहते हैं। ऐसा कोई अधिकार नहीं जो उसका अपना ही हो। इस विचार से संविधान भारत के प्रान्त की सत्ता को मूलभूत मानता है और केन्द्र को राज्यों का समूह मात्र। यह सत्य के विपरीत है। भारत की एकता और अखण्डता की धारणा का विरोधी है। इसमें भारत माता की जीवमान चैतन्यमयी कल्पना नहीं। संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार "इण्डिया अर्थात् भारत एक राज्यों का संघ होगा।" अर्थात् बिहारमाता, बंगमाता, पंजाबमाता, कन्नड़माता, तमिलमाता आदि माताओं को मिलाकर भारत माता बनेगी। यह हास्यास्पद कल्पना है। हमने प्रान्तों की कल्पना भारत-माता के अंगों के रूप में की है; अलग-अलग माताओं के रूप में नहीं। अतः हमारा संविधान संघात्मक न होकर एकात्मक होना चाहिए।

एकात्मक राज्य का स्वरूप

एकात्मक राज्य का मतलब सारी ताकत या अधिकारों का केन्द्रीकरण नहीं है। जैसे घर में जो मुखिया होता है, सम्पूर्ण कामकाज उसके नाम पर चलता है, परन्तु सारी ताकत मुखिया के पास नहीं होती। ताकत तो बाकी लोगों के पास रहती है। आत्मा के आधार पर सब कुछ चलता होगा, पर क्या आत्मा के पास ताकत रहती है ? ताकत तो प्राण के पास है और उसके आधार पर अंगों के पास रहती है। एकात्मक राज्य का मतलब हाइ।। ऑटोक्रेटिक (अत्यन्त स्वेच्छाचारी) राज्य नहीं और न इसका अर्थ है कि प्रान्त समाप्त कर दिये जाएँ। प्रान्तों को अधिकार रह

सकता है, रहेगा, बल्कि इन प्रान्तों के नीचे भी जो और बाकी संस्थाएँ हैं जैसे कि जनपद हैं उनको भी अधिकार रहेंगे। इस प्रकार पंचायतों को अधिकार चाहिएं। हमारी परम्परा में पंचायतों का बहुत ऊँचा स्थान है। पंचायतों को भी कोई नष्ट नहीं कर सकता था। किन्तु आज हमारी इन पंचायतों का स्थान हमारे संविधान में नहीं है। पंचायतों की कोई अपनी सत्ता नहीं है। पंचायतें तो केवल प्रदत्त सत्ता के नाते से और राज्य सरकारों की कृपा से पैदा होती हैं। आवश्यकता है उनकी स्वयंभू सत्ता स्वीकार की जाए। इस प्रकार से सत्ता का विकेन्द्रीकरण होगा। शक्ति नीचे तक जायेगी। शक्ति के कई स्थान होंगे। किन्तु इन सबका एक केन्द्र इस नाते से हमारा यह एकात्मक राज्य होगा। यह हमारे धर्म के अनुसार होगा।

धर्म की परिधि में सम्पूर्ण मानवता सन्निहित

धर्म की इस कल्पना को और आगे ले जायें तो केवल राज्य और राष्ट्र का ही नहीं, मानव की प्रकृति का भी विचार करना होगा। अर्थात् राष्ट्र का संविधान प्राकृतिक न्याय के प्रतिकूल नहीं हो सकता। ऐसे बहुत व्यवहार हैं जिनके नियम किसी कानून में लिखे नहीं होते, परन्तु होते वे अवश्य हैं। शायद ये नियम कानूनों से भी अधिक प्रभावी और बन्धनकारक होते हैं। अपने माता-पिता का आदर करना चाहिए, यह किसी कानून में नहीं लिखा। आजकल की सरकारें, जो बड़ी तेजी से तरह-तरह के कानून बना रही हैं, उन्होंने भी इस विषय में कोई कानून नहीं बनाया। इतने कानून बनने के बाद भी ऐसा कोई कानून नहीं बना कि माता-पिता का आदर करो और कहना मानो। फिर भी माता-पिता का आदर करते हैं। न करने वालों को कोई अच्छा नहीं कहता, उन्हें बुरा माना जाता है। कल ऐसा ही कोई सवाल आ करके खड़ा हो जाय और कचहरी में भी सवाल आ करके खड़ा हो जाय, तो वहाँ पर भी सामान्यतः यह मानेंगे कि माता-पिता का, जब तक कि वयस्क होने के कारण उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न कर लिया हो, कहना मानना चाहिए तथा उनका आदर करना चाहिए।

वैधता का निर्णायक धर्म है

इस प्रकार का कानून या लॉ जो आधारभूत, प्राकृतिक एवं आदिरूप है, वही सब वस्तुओं और व्यवहार की नियमानुकूलता तथा वैधता का निर्णायक है। इस लॉ को ही हमारे यहाँ धर्म कहा है। 'Innate Law' धर्म का निकटतम पर्याय हो सकता है किन्तु फिर भी वह धर्म के पूरे भाव को प्रकट करने में असमर्थ है। धर्म की प्रभुता होने के कारण हमारा राज्य का आदर्श 'धर्मराज्य' है। राजा धर्म की रक्षा करने के लिए है। जब पुराने जमाने में राजा का अभिषेक हुआ करता था तो वह खड़ा होकर कहता था **"अदण्ड्योऽस्मि ! अदण्ड्योऽस्मि ! ! अदण्ड्योऽस्मि ! ! !"** अर्थात् मुझे कोई दण्ड नहीं दे सकता। वही बात जो पश्चिम का राजा कहा करता था। वहाँ भी राजा कहता था कि राजा कोई गलती नहीं कर सकता, इसलिए राजा को कोई दण्ड नहीं दे सकता। राजा के यह कहने पर पुरोहित हाथ में एक पलाश का दण्ड लेकर के उसकी पीठ पर मारता था और कहता था, नहीं **"धर्मदण्डोऽस्ति"**, कि तेरे ऊपर भी यह दण्ड है, यह धर्म का दण्ड है; तू 'अदण्ड्य' नहीं है। राजा भागता तथा वेदी की परिक्रमा करता और पुरोहित उसकी पीठ पर पलाश का दण्ड मारता जाता था। तीन चक्कर लगाने के बाद यह विधि समाप्त होती थी। उसे मालूम हो जाता था कि उसके ऊपर भी धर्म का दण्ड है। राजा अदण्ड्य नहीं—सॉवरेन नहीं।

इसी प्रकार जनता भी मनमानी कर सकती है क्या ? तो लोग कहेंगे कि हाँ ! जनतन्त्र का मतलब यही है कि जनता चाहे जो करे। किन्तु हमारे यहाँ जनता चाहे भी तो अधर्म नहीं कर सकती। एक बार एक धर्मप्रचारक से लोग सवाल पूछ रहे थे। उनका कहना था कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, सब-कुछ कर सकता है। एक सज्जन ने कहा, नहीं ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो क्या ईश्वर अधर्म कर सकता है ? समस्या आ गई कि कैसे कहें ? क्या यह कहा जाय कि ईश्वर अधर्म कर सकता है या यह माना जाए कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है। ईश्वर अधर्म नहीं कर सकता। यदि करेगा तो सर्वशक्तिमान नहीं रहेगा। अधर्म शक्ति का नहीं दुर्बलता का द्योतक है। आग अगर बुझने लगेगी तो

शक्तिशाली नहीं रहेगी। शक्ति मनमानी करने में नहीं संयमपूर्ण व्यवहार में है। अतः सर्वशक्तिमान परमेश्वर सम्पूर्ण संयमी अर्थात् पूर्ण धर्ममय हैं। ईश्वर जब जन्म लेता है तो मनमानी करने के लिए नहीं, वरन् अधर्म के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए ही। ईश्वर का अवतार भी धर्म के लिए होता है। इसलिए ईश्वर भी सब-कुछ कर सकता है परन्तु अधर्म नहीं कर सकता। यदि बुरा न लगे तो कह सकते हैं कि ईश्वर से भी बड़ा धर्म है। वह धर्म से चलता है। इसलिए सृष्टि चलती है। राजा धर्म-राज्य के प्रमुख के नाते ही विष्णु है।

क्या धर्म-राज्य का अर्थ थ्योक्रेटिक स्टेट है ?

धर्मराज्य का अर्थ थ्योक्रेटिक स्टेट (Theocratic State) नहीं है। इसे अच्छी प्रकार से समझ लें। थ्योक्रेटिक स्टेट यानी जहाँ पर किसी भी पंथ-गुरु का राज हो। एक पंथ के लोगों को सब अधिकार हों और अन्य पंथावलम्बी या तो रह ही न सकें अथवा गुलाम या दूसरे दर्जे के नागरिक बनकर रहें। रोमन साम्राज्य इसी आधार पर चलता था। 'खिलाफत' के पीछे भी यही कल्पना थी। खलीफा के नाम पर ही दुनिया भर के मुसलमान बादशाह राज्य करते थे। किन्तु यह 'खिलाफत' प्रथम विश्वयुद्ध के बाद खत्म हो गई। अब उसे पुनः पैदा करने की कोशिश की गई है। पाकिस्तान में एक नई थ्योक्रेटिक स्टेट बनी है। वे अपने को इस्लामी राज्य कहते हैं। वहाँ मुसलमानों को छोड़कर बाकी जितने लोग हैं, वे दूसरे दर्जे के नागरिक हैं। इसके अतिरिक्त इस्लामी हुकूमत का और कोई रूप तो वहाँ नहीं दीखता। कुरान, मस्जिद, रोज़ा, ईद, नमाज आदि जैसी वहाँ हैं वैसी हिन्दुस्थान में भी हैं। अर्थात् राज्य और मजहब को जोड़ने की आवश्यकता नहीं। इससे व्यक्ति का ईश्वर की उपासना करने का सामर्थ्य नहीं बढ़ता। हाँ, राज्य अपने कर्त्तव्यों से अवश्य च्युत हो जाते हैं। धर्मराज्य में यह नहीं होता, अपितु प्रत्येक को अपने मजहब की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। थ्योक्रेटिक स्टेट में एक पंथ को स्वतन्त्रता और दूसरों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बन्धन रहते हैं। धर्मराज्य व्यक्ति के विकास, उसके सुख और

शान्ति में मजहब का स्थान स्वीकार करता है। इसलिए राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी अवस्थाएँ पैदा करे जिसमें व्यक्ति अपने मतानुसार जीवनयापन कर सके। अपने मत को मानने की स्वतन्त्रता में दूसरे के मत के प्रति सहिष्णुता स्वयमेव आती है।

हम जानते हैं कि हर प्रकार की स्वतन्त्रता की अपनी मर्यादायें होती हैं। मुझे हाथ घुमाने की स्वतन्त्रता है, किन्तु जैसे ही किसी दूसरे व्यक्ति की नाक और मेरे हाथ में संघर्ष आया कि मेरी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। मुझे इतनी स्वतन्त्रता नहीं कि अपना हाथ घुमाकर दूसरे की नाक पर मुक्का लगा दूँ। जहाँ उसकी नाक की नोंक शुरू हुई कि मेरी स्वतन्त्रता खत्म हो गई, क्योंकि उसकी नाक को भी तो स्वतन्त्रता है। दोनों की स्वतन्त्रता की रक्षा करनी होगी। वैसे ही प्रत्येक को अपने मजहब की स्वतन्त्रता है। किन्तु मजहब की स्वतन्त्रता वहीं तक है जहाँ तक वह दूसरे के मजहब में दखल न दें। अगर दूसरे के मजहब में दखल देता है तो कहना होगा कि वह स्वतन्त्रता का दुरुपयोग है। इस प्रकार की मर्यादायें हर जगह पर रहेंगी। धर्मराज्य में मजहब की स्वतन्त्रता है, पर थ्योक्रेटिक स्टेट में नहीं।

आजकल थ्योक्रेटिक स्टेट के विरुद्ध 'सेक्यूलर स्टेट' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द पश्चिम के लोगों से नकल करके लिया है। हमें इसकी जरूरत नहीं थी। पाकिस्तान से अलग बताने के लिए हमने सेक्यूलर स्टेट का प्रयोग किया। इसके कुछ गलत अर्थ लगा लिये गये हैं। रिलिजन का 'धर्म' से अनुवाद किया व सेक्यूलर स्टेट का लोगों ने अनुवाद 'अधार्मिक राज्य' किया। कुछ लोगों ने कहा कि 'धर्महीन राज्य' और कुछ लोगों ने उस शब्द को अच्छा करने की कोशिश की तो उन्होंने कहा 'धर्म-निरपेक्ष राज्य'। परन्तु ये सबके सब अनुवाद पूर्णतया गलत हैं क्योंकि राज्य तो धर्महीन नहीं हो सकता, धर्म-निरपेक्ष भी नहीं रह सकता, जैसे अग्नि ताप-निरपेक्ष नहीं रह सकती। हो जाय तो क्या होगा? अग्नि तापहीन हो जाय या वह ताप-विरोधी हो जाय, कैसी भी हो जाय, परन्तु फिर वह अग्नि नहीं रहेगी। वह राज्य जिसका काम ही यह है कि धर्म की व्यवस्था

रहे, समाज में धर्म (Law and Order) रहे, वह धर्म से अलग कैसे रह सकता है? इसलिए धर्म-निरपेक्ष राज्य तो नियमहीन राज्य हो जायेगा। जहाँ नियमहीनता है वहाँ राज्य कहाँ? अर्थात् धर्म-निरपेक्षता और राज्य ये एक-दूसरे के विरोधी हैं। राज्य तो धर्मराज्य ही हो सकता है दूसरा नहीं। दूसरे में तो उसके मूल कर्त्तव्य की ही उपेक्षा हो जायेगी।

धर्मराज्य में भी राज्य मनमांना नहीं होता

धर्मराज्य में राज्य मनमाना काम नहीं करेगा। उसे धर्म के हिसाब से चलना होगा। हमारी सॉवरेनिटी धर्म में है। अभी एक झगड़ा खड़ा हो गया है कि संसद बड़ी या उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय? न्याय-पालिका बड़ी या विधानसभा? और लोग इस पर झगड़ा करते हैं। यह तो ऐसा ही झगड़ा है कि दायाँ पैर बड़ा कि बायाँ पैर बड़ा? क्योंकि ये दोनों ही राज्य के अंग हैं, दोनों के अपने-अपने कर्त्तव्य हैं। अपने-अपने क्षेत्र में अपना स्थान है। कहीं कोई बड़ा, कहीं कोई बड़ा। इसमें से किसी को बड़ा मानना विचित्र बात है। परन्तु विधान मण्डल वाले कहते हैं कि हम बड़े हैं और न्यायपालिका वाले कहते हैं तुम बनाते हो कानून, हम उसकी व्याख्या करते हैं। हम बड़े कि तुम बड़े? उत्तर मिलता है कि "वाह, वाह! सारा अधिकार तो हमने दिया है। संविधान में परिवर्तन करके यह तय कर देते हैं कि कौन बड़ा?" अब यहाँ पर चूँकि संविधान से अधिकार दिये जाते हैं इसलिए वे शायद संविधान में संशोधन की बात कह रहे हैं। परन्तु मैं कहूँगा कि इस प्रकार का संशोधन आप बहुमत से भले ही कर लें, किन्तु वह धर्म के विरुद्ध होगा। वास्तव में दोनों समसत्ता हैं। दोनों में न तो विधायिका बड़ी और न न्यायपालिका; दोनों के ऊपर बैठा हुआ धर्म बड़ा है। विधायिका को धर्मानुसार काम करना होगा और न्यायपालिका को भी धर्मानुसार काम करना होगा। उसके अन्दर उसकी मर्यादायें होंगी। यहाँ सबसे बड़ा न विधायिका को, न न्यायपालिका को और न जनता को रखा गया है।

धर्मानुसार चलने वाला अल्पमत भी श्रेष्ठ

वास्तव में धर्म-विरुद्ध आचरण बहुमत भी नहीं कर सकता। द्वितीय विश्वयुद्ध में जब हिटलर ने फ्राँस के ऊपर आक्रमण किया तो फ्रांस उसका सामना नहीं कर पाया। हिटलर की सेनायें आगे बढ़ती गईं। उस समय फ्रांस के प्रधानमन्त्री मार्शल पेतॉ ने आत्मसमर्पण का निर्णय किया। फ्रांस की जनता ने उसका समर्थन किया। किन्तु दिगॉल भाग कर लन्दन गया। लन्दन में बैठ कर उसने कहा कि मैं इस समर्पण को स्वीकार नहीं करता हूँ। फ्रांस स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र रहेगा। वहाँ बैठ करके फ्रांस की सरकार बनाई और पुन: फ्रांस को स्वतन्त्र किया। अब यदि बहुमत का नियम धर्म मानकर चलते तो दिगॉल को कभी ठीक नहीं कहा जा सकता। उसे न लड़ने का अधिकार था और न स्वतन्त्रता का नाम लेने का अधिकार प्राप्त हो सकता था। दिगॉल को यदि अधिकार आया तो इसलिए आया कि राष्ट्र बहुमत और जनता से भी बड़ा है। राष्ट्र का धर्म इन सबसे ऊपर है। उसने जिस तत्त्व से अधिकार प्राप्त किया वह थी फ्रांस की स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता प्रत्येक राष्ट्र का धर्म है। उसकी रक्षा करना तथा खोने पर प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

हमारे यहाँ भी अंग्रेजों से लड़ने के लिए बहुमत नहीं खड़ा हुआ था। कुछ लोग खड़े हुए थे। कुछ क्रान्तिकारी खड़े हुए। कुछ वीर खड़े हुए। उन्होंने लड़ाई लड़ी। लोकमान्य तिलक ने कहा था कि स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह जन्मसिद्ध अधिकार उन्होंने बहुमत के समर्थन पर नहीं कहा था। आजकल तो लोग कहते हैं कि गोवा का भविष्य जनमत संग्रह से तय कर लो, कश्मीर में जनमत संग्रह कराओ आदि। यह गलत है। राष्ट्रीय एकता हमारा धर्म है। उसका निर्णय मतसंग्रह से नहीं होगा। यह निर्णय तो प्रकृति ने कर दिया है। शासन कौन चलाये? यह तो एक बार बहुमत और चुनाव से तय हो सकता है। परन्तु सत्य क्या है यह कभी बहुमत से तय नहीं होता। राजा कौन बनेगा? यह बहुमत से तय होता है; पर राजा क्या करेगा? यह धर्म से तय होता है।

बहुमत को चुनौती

आप जानते हैं कि अमरीका में, जहाँ प्रजातन्त्र का बहुत बोलबाला कहा जाता है, वहाँ पर लिंकन ने गलत जनमत को स्वीकार नहीं किया। लिंकन से जब दक्षिणी राज्यों ने कहा कि हम अलग हो जाते हैं क्योंकि लिंकन ने वहाँ दास-प्रथा को समाप्त किया तो उस समय लिंकन खड़ा हुआ और लोगों से कहा, "यह आपको डेमोक्रेटिक अधिकार नहीं कि आप अलग हो जाइये।" लिंकन ने लड़ाई लड़ी परन्तु उन्हें अलग नहीं होने दिया। दास-प्रथा को भी नहीं चलने दिया। यह नहीं कहा कि यदि आप दास प्रथा मान लेते हैं तो समझौता कर लेते हैं और समझौते द्वारा थोड़ी-थोड़ी दास-प्रथा रहेगी और थोड़ी-थोड़ी नहीं। ऐसा भी उन्होंने नहीं कहा कि "आधा तेरा, आधा मेरा।" उन्होंने कहा कि अमरीका की जो परम्परा है, यहाँ का जो धर्म है, प्रकृति है, जिस आधार पर राष्ट्र-निर्माण का प्रयत्न किया जा रहा है, दास-प्रथा उसके प्रतिकूल है। इसलिए दास-प्रथा नहीं रहेगी। जब लोगों ने कहा हम अलग होते हैं, तो उन्होंने कहा तुम अलग भी नहीं होओगे। इस पर वहाँ गृहयुद्ध हुआ परन्तु लिंकन ने अधर्म के साथ समझौता नहीं किया।

हमारे यहाँ ऐसी व्यवस्था है जैसे पुराने हिन्दू विवाह में पति-पत्नी का सम्बन्ध उनकी मर्जी पर निर्भर नहीं करता। एक क्या यदि दोनों भी राजी हो जायँ तो भी वे तलाक नहीं दे सकते। उनका आचरण मर्जी से नहीं धर्म से नियन्त्रित होना चाहिए। इसी प्रकार राष्ट्रीयता का नाता है। कश्मीर के ४० लाख लोग कहें कि हम अलग होते हैं; गोवा के कहें कि हम अलग होते हैं—कुछ ने कहा कि हम पुर्तगाल को वापस बुला लेंगे—तो यह धर्म के प्रतिकूल है। हिन्दुस्थान के ४५ करोड़ लोगों में से यदि ४४ करोड़ ९९ लाख ९९ हजार ९९९ लोग भी ऐसा कहें जो धर्म के प्रतिकूल बात होगी, तो वह कभी सत्य नहीं होगी और इसके विपरीत एक व्यक्ति कहेगा और यदि वह धर्मानुसार है तो वह सत्य होगी क्योंकि सत्य धर्म के साथ रहता है। उस एक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि इस सत्य के आधार पर वह चले तथा लोगों को बदले। उसी में से उस एक व्यक्ति को धर्माचरण

का, धर्म के हिसाब पर काम करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

धर्म किसी निकाय अथवा संस्था में नहीं

हम अच्छी तरह समझ लें कि बहुमत में या जनता में धर्म नहीं है। धर्म शाश्वत है। इसीलिए प्रजातन्त्र की व्याख्या में जनता का शासन ही पर्याप्त नहीं, यह शासन जनता के हित में भी होना चाहिए। जनता के हित का निर्णय तो धर्म ही कर सकता है। अत: जनराज्य को धर्मराज्य भी होना आवश्यक है। सच्चा प्रजातन्त्र वही हो सकता है जहाँ स्वतन्त्रता और धर्म दोनों हों। धर्मराज्य में इन सभी कल्पनाओं का समावेश हो सकता है।

(२४ अप्रेल, १९६५)

४

राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थ-रचना

प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं जहाँ राजा का वर्णन किया गया है और राज्यधर्म का उसको उपदेश दिया गया है, वहाँ उसे अत्यन्त महत्वशाली अवश्य बताया गया है। यह शायद इसलिए कि उसे अपने कर्त्तव्य का भान रहे, अपने दायित्व की जानकारी हो। वह सम्पूर्ण समाज जीवन के ऊपर प्रभाव डालने वाला व्यक्ति है। उसे अपने ऊपर पूरा ध्यान देना चाहिए। महाभारत में भीष्म ने यही बात कही। "राजा काल का कारण है अथवा काल राजा का कारण है?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने बिल्कुल निश्चयात्मक रूप से बतलाया **"राजा कालस्य कारणम्"**, कि राजा ही काल का कारण है। अब इसमें से कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि उन्होंने राजा को ही सर्वोपरि माना है, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। भीष्म ने राजा को इतना महत्त्व देते हुए भी विधि से ऊपर नहीं बताया। राजा का प्रभाव होता है यह सत्य है और राजा, समाज में धर्म रहे, इस बात को देखने की जिम्मेदारी लेकर चलता है, यह भी सत्य है। किन्तु

राजा धर्म का निर्माण करने वाला नहीं होता। धर्म का लोग पालन करें यही बात वह देखने वाला है। यानि एक प्रकार से कहा जाय तो राजा का स्थान उतना ही है, जितना आज के समय में कार्यपालिका का होता है।

जिम्मेदार कार्यपालिका

कार्यपालिका आज भी कानून नहीं बनाती, परन्तु राज्य ठीक प्रकार से चले यह जिम्मेदारी कार्यपालिका पर होती है। अगर कार्यपालिका ठीक न चले तो कानून की कैसी धज्जियाँ उड़ती हैं, वह आज हम अच्छी तरह से देख रहे हैं। आज भी हम कह सकते हैं 'कार्यपालिका कालस्य कारणम्' कि आज जो बुराइयाँ चल रही हैं उसमें कार्यपालिका की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। आखिर नशाबन्दी क्यों असफल हो गई है ? यहाँ उसके लिए कौन जिम्मेदार है ? जिन लोगों पर इस बात का दायित्व डाला गया कि नशाबन्दी के कार्यक्रम को सफल बनाओ, जब उन्होंने ही हफ्ता लेना शुरू कर दिया तो नशाबन्दी चलेगी कहाँ से ? उसके लिए जिम्मेदारी कार्यपालिका पर आती है। इसी जिम्मेदारी के रूप में भीष्म की उपर्युक्त उक्ति है। उसमें से यह निष्कर्ष निकालना गलत है कि हमने राजा को ही सर्वप्रभुतासम्पन्न माना है। अगर ऐसा होता तो फिर अत्याचारी राजा वेण को राज्यसिंहासन से हटाकर पृथु को गद्दी पर बिठाने का काम ऋषियों ने न किया होता। ऋषियों के इस कार्य को किसी भी शास्त्र ने, किसी भी इतिहास ने बुरा नहीं कहा, बल्कि अच्छा ही कहा। धर्म की प्रभुता स्वीकार करने पर ही ऋषियों को अधर्मी राजा को हटाने का अधिकार प्राप्त होता है, अन्यथा राजा को हटाना अवैध माना जाता। यदि राजा अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो राजा को हटाना धर्म है। किन्तु पश्चिम में एक राजा को दूसरे राजा ने संघर्ष करके हटाया या जनता ने उस समय हटाया जब उन्होंने तत्वतः राजपद्धति को अमान्य कर दिया। वहाँ राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और किसी भी परिस्थिति में नहीं हटाया जा सकता।

समाज व्यवस्था में अनेक संस्थायें

राजा या राज्य सर्वोपरि तो है ही नहीं, वह एकमेव संस्था भी नहीं है। समाज की व्यवस्था तथा उसके जीवन का नियमन करने वाली, समाज की व्यवस्था देखने वाली, अनेक संस्थायें हैं। उनका प्रादेशिक और व्यावसायिक दोनों आधारों पर गठन हुआ है। पंचायतें और जनपद सभायें हमारे यहाँ रही हैं। बड़े-से-बड़े चक्रवर्ती सार्वभौम राजा ने भी कभी पंचायतों को समाप्त नहीं किया। इसी प्रकार व्यावसायिक संगठन भी रहे हैं। उन्हें भी किसी ने समाप्त नहीं किया, अपितु उनकी स्वायत्तता को स्वीकार किया गया। अपने-अपने क्षेत्र में उन्होंने नियम बनाये। जाति की पंचायतें, श्रेणियाँ, पूग, निगम, ग्राम पंचायतें, जनपद सभायें आदि संस्थायें नियम बनाती थीं। राज्य का काम यही था कि इन नियमों का पालन होता है कि नहीं, यह देखे। राज्य ने कभी उनके मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। इस प्रकार हमारे यहाँ राज्य तो जीवन के थोड़े से हिस्से को ही छूता था।

इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक संस्थाएँ जन्म लेती हैं। इस दृष्टि से हमें आज कुछ अर्थव्यवस्था का भी विचार करना पड़ेगा। अर्थ-व्यवस्था कैसी हो ? हमें ऐसी व्यवस्था चाहिए जो हमारे मानवत्व को विकसित कर सके; हमारे मानव्य को समाप्त न करे; उसके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव न डाले और जिसके द्वारा हम मानव से ऊँचे उठकर देवत्व को प्राप्त कर सकें। क्योंकि हमारे यहाँ पर मानव जीवन का पूर्ण विकास उसका देवत्व के रूप में आविर्भाव ही माना गया है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अर्थव्यवस्था की क्या मर्यादायें होनी चाहिएँ, इसका विचार करें।

अर्थव्यवस्था की मर्यादायें

लोगों के भरण-पोषण के लिए, जीवन के विकास के लिए और राष्ट्र की धारणा और विकास के लिए जिन मौलिक साधनों की आवश्यकता होती है उनका उत्पादन अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। न्यूनतम मर्यादा के बाद और अधिक समृद्धि एवं सुख के लिए अर्थोत्पादन करना

चाहिए या नहीं, यह स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है। पश्चिम का अर्थशास्त्र तो इच्छाओं को बराबर बढ़ाते जाना और उनकी आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति करना ही अभीष्ट समझता है। इस विषय में उसकी कोई अधिकतम मर्यादा नहीं है। सामान्यतया तो पहले इच्छा होती है और फिर उसकी पूर्ति के साधन जुटाये जाते हैं। किन्तु अब तो हालत यह आ गई है कि जो कुछ पैदा किया जाता है, उसका उपयोग हो इसके लिए लोगों में इच्छा पैदा की जाती है। बाजार के लिए माल पैदा करने के स्थान पर पैदा किये हुए के लिए बाजार ढूँढ़ना, न मिले तो बाजार पैदा करना आज की अर्थनीति का प्रमुख अंग बन गया है। आरम्भ मे उत्पादन उपभोग का अनुसरण करता था, अब उपभोग उत्पादन का अनुचर है।

हम चाय का ही उदाहरण लें। चाय की माँग थी, इसलिए चाय नहीं पैदा की गई। किन्तु चाय पैदा की गई और इसलिए हमें पीना सिखाई गई। हम अब चाय पीते हैं। वह हमारे जीवन का एक अंग बन गई है। इसी प्रकार हम आजकल वनस्पति तेल का उपभोग कर रहे हैं। क्या हमने कभी इसकी माँग की थी? वास्तव में वनस्पति पैदा किया गया और फिर हमें उसका उपभोग सिखाया गया। जो कुछ पैदा होता है यदि उसका उपभोग न करें तो वहाँ पर मन्दी आ जावेगी। १९३०-३२ की मन्दी का जमाना हमें याद होगा। उस समय माल तो था पर उसकी खपत नहीं थी, इसलिए धड़ाधड़ कारखाने बन्द होते जाते थे। दिवाले निकल रहे थे तथा बेकारी बढ़ती जाती थी। इसलिए आज महत्त्व की वस्तु यह हो गई है कि पैदा माल की खपत हो जाय।

अंग्रेजी के साप्ताहिक 'ऑर्गनाइजर' के सम्पादक कुछ वर्ष पूर्व अमरीका गये थे। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने एक मजेदार घटना बताई। वहाँ आलू छीलने का चाकू बनाने का एक कारखाना है। उस कारखाने का उत्पादन इतना बढ़ गया कि लोगों की आवश्यकता से ज्यादा पैदा करने लगा। अतः प्रश्न पैदा हुआ कि लोग यह चाकू अधिक संख्या में खरीदें इसका कोई तरीका ढूँढ़ा जाय। कारखाने के सेल्समैनों की बैठक हुई। एक सुझाव रखा गया कि यदि चाकू के बेंटे का रंग आलू के छिलके

जैसा ही बनाया जाय तो आलू छीलने के बाद छिलके के साथ चाकू को भी कूड़े की टोकरी में फेंकने की सम्भावना बढ़ जाएगी। इस प्रकार माल की अधिक खपत होगी। चाकू को आकर्षक बनाने के लिए सुन्दर पैकिंग की भी व्यवस्था की गई। अब यह अर्थव्यवस्था उपभोग-प्रधान न होकर विनाशोन्मुख है। पुराना फेंको और नया खरीदो। नया खरीदने की चाह उपभोक्ता में पैदा करना; माँग पूरी करना नहीं; माँग पैदा करना यही आज अर्थव्यवस्था का लक्ष्य हो गया है।

प्रकृति की मर्यादा न भूलें

किन्तु उत्पादन का सम्बन्ध प्राकृतिक साधनों से भी है। यदि अन्धाधुन्ध उत्पादन बढ़ाते गए तो ये प्राकृतिक साधन कब तक साथ देंगे? कुछ लोग यह कहकर समाधान कर देते हैं कि यदि एक प्रकार के साधन समाप्त हो गए तो दूसरी प्रकार की वस्तुओं की खोज हो जाएगी। नये सब्स्टीट्यूट ढूंढे जा सकते हैं। उनके इस तर्क में निहित बल को स्वीकार करने के बाद भी यह कहना पड़ेगा कि प्रकृति की सम्पदा अपार होने पर भी उसकी मर्यादा है। यदि बड़ी तेजी के साथ आवश्यक रूप से हम उसका खर्च करते गए तो एक दिन हमें पछताना पड़ेगा।

प्रकृति से उच्छृंखलता

प्रकृति की सम्पदा की मर्यादा की चिन्ता न भी करें तो कम से कम इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि प्रकृति में विभिन्न वस्तुओं के बीच एक परस्परावलम्बी सम्बन्ध है। एक-दूसरे के सहारे खड़ी तीन लकड़ियों में से यदि हम एक की स्थिति में परिवर्तन कर दें तो शेष दो अपने आप गिर जाएँगी। आज की अर्थव्यवस्था और उत्पादन की पद्धति इस सामंजस्य को बड़ी तेजी से बिगाड़ती जा रही है। परिणामतः जहाँ एक ओर हम नई-नई इच्छाओं की पूर्ति के लिए नए-नए साधन ढूंढ़ रहे हैं वहाँ दूसरी ओर नये-नये प्रश्न हमारी सम्पूर्ण सभ्यता और मानवता को समाप्त करने के लिए पैदा होते जा रहे हैं।

हम प्रकृति से उतना तथा इस प्रकार लें कि वह उस कमी को स्वयं पुनः पूरित कर ले। पेड़ से फल लेने में उसकी हानि नहीं होती, लाभ होता है। पर भूमि से अधिक फसल लेने के लोभ में हम ऐसे उर्वरकों का प्रयोग कर रहे हैं जिनसे कुछ दिनों के बाद उसकी उत्पादन शक्ति समाप्त हो जाती है। आज अमरीका में लाखों एकड़ भूमि इस प्रकार की खेती के कारण ऊसर हो चुकी है। यह विनाशलीला कब तक चलती रहेगी?

कारखानेदार मशीन आदि के लिए घिसाई-निधि की व्यवस्था करता है। परन्तु प्रकृति के इस कारखाने के लिए हम किसी भी घिसाई-निधि की चिन्ता न करें, यह कैसे हो सकता है? इस दृष्टि से विचार किया जाए तो कहना होगा कि हमारी अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य अमर्याद उपभोग नहीं अपितु संयमित उपभोग होना चाहिए। सोद्देश्य, सुखी, विकासमान जीवन के लिए जिन भौतिक साधनों की आवश्यकता है वे अवश्य ही प्राप्त होने चाहिएँ। भगवान की सृष्टि का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि उतनी व्यवस्था उसने की है। किन्तु जब हम यह समझ कर कि भगवान ने मनुष्य को केवल उपभोग प्रवण प्राणी बनाया है और उसके लिए अन्धाधुन्ध उपभोग के लिए ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति खर्च करें, तो यह ठीक नहीं। इंजिन को चलाने के लिए कोयला चाहिए। किन्तु कोयला खाने के लिए इंजिन नहीं बनाया गया। प्रत्युत हमारा प्रयत्न तो यही रहता है कि कम-से-कम ईंधन से ज्यादा-से-ज्यादा शक्ति कैसे पैदा हो। यह बचत का दृष्टिकोण है। मानव जीवन के उद्देश्य का विचार करके हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे वह न्यूनतम ईंधन से अधिकतम गति के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सके। यह अर्थव्यवस्था माननी होगी। यह मानव के एक पहलू का विचार न कर उसके पूर्ण जीवन का तथा अन्तिम उद्देश्य का विचार करेगी। यह संहारात्मक न होकर सृजनात्मक होगी। यह प्रकृति के शोषण पर निर्भर न रहकर उसके पोषण पर निर्भर रहेगी। शोषण नहीं, दोहन हमारा आधार होना चाहिए था। प्रकृति का स्तन्य हमारे लिए जीवनदायी हो, यही व्यवस्था करनी चाहिए।

पश्चिम के घातक आर्थिक नारे

अर्थ-व्यवस्था का यह मानवी उद्देश्य रहा तो आर्थिक प्रश्नों की ओर देखने की हमारी दृष्टि बदल जाएगी। पश्चिम की अर्थव्यवस्था में, वह पूँजीवादी हो या समाजवादी, मूल्य को अत्यन्त महत्त्व का एवं केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। उसके चारों ओर ही सम्पूर्ण आर्थिक विचार चक्कर लगाता रहता है। एक नैयायिक की दृष्टि से 'मूल्य' सम्बन्धी विश्लेषण का चाहे जो महत्व हो किन्तु उसके आधार पर जो जीवन-दर्शन बने हैं वे बहुत ही अधूरे, अमानवीय एवं कुछ अंशों में नीतिविहीन भी हैं। एक उदाहरण लें। आजकल का नारा लगाया जाता है 'कमाने वाला खायेगा'। सामान्यतया यह नारा कम्युनिस्ट लगाते हैं, किन्तु पूँजीवादी भी इस नारे के मूल में निहित सिद्धान्त से असहमत नहीं। यदि दोनों में झगड़ा है तो इसी बात का कि कौन कितना कमाता है। पूँजीवादी साहस और पूँजी को महत्व देते हैं और इसलिए खाने में उनका प्रमुख भाग रहा तो उसे वे उचित ही मानते हैं। दूसरी ओर कम्युनिस्ट श्रम को ही निर्माण मानते हैं, इसलिए वे श्रमिक को ही खाने का अधिकार देते हैं। ये दोनों ही विचार ठीक नहीं हैं। वास्तव में तो हमारा नारा होना चाहिए **'कमाने वाला खिलायेगा'** तथा **'जन्मा सो खायेगा'**। खाने का अधिकार जन्म से प्राप्त होता है। कमाने की पात्रता शिक्षा से आती है। समाज में जो कमाते नहीं वे भी खाते हैं। बच्चे, बूढ़े, रोगी, अपाहिज सबकी चिन्ता समाज को करनी पड़ती है। प्रत्येक समाज इस कर्त्तव्य का निर्वाह करता है। मानव की सामाजिकता और संस्कृति का मापदण्ड इस कर्त्तव्य के निर्वाह की तत्परता ही है। इस कर्त्तव्य के निर्वाह की क्षमता पैदा करना ही अर्थव्यवस्था का काम है। अर्थशास्त्र इस कर्त्तव्य की प्रेरणा का विचार नहीं कर पाता। काम तो मनुष्य अपने इस कर्त्तव्य के निर्वाह के लिए करता है, अन्यथा जिनकी भूख मिट गई है वे काम ही नहीं करेंगे।

न्यूनतम स्तर

मानव के नाते भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति किसी भी अर्थव्यवस्था

का न्यूनतम स्तर है। रोटी, कपड़ा और मकान मोटे रूप में इन आवश्यकताओं की अभिव्यञ्जना करते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति को समाज के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए सक्षम बनाना भी समाज का आधारभूत दायित्व है। और किसी भी प्रकार के अस्वास्थ्य की दशा में व्यक्ति को स्वस्थ बनाने की व्यवस्था करना तथा उसके निर्वाह की व्यवस्था करना भी समाज का काम है। इतना कम-से-कम जिस राज्य में हो वही धर्मराज्य है, नहीं तो अधर्म राज्य है। रघुवंश में दिलीप का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है :

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणात् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥(१/२४)

(प्रजा के शिक्षण, रक्षण और भरण-पोषण की व्यवस्था के कारण वही उनका वास्तविक पिता था। उनके पिता तो केवल जन्मदाता थे।) जिस भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा है उसकी व्याख्या भी यही है कि 'भरणात् रक्षणात् च'—अर्थात् भरण और रक्षण के कारण वह भरत कहलाता था। उसका यह देश भारत है। इस देश में भरण-पोषण की गारण्टी न रही तो 'भरत' नाम सार्थक नहीं होगा।

शिक्षा—समाज का दायित्व

बच्चे को शिक्षा देना समाज के अपने ही हित में है। जन्म से मानव पशुवत् पैदा होता है। शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है। जो काम समाज के अपने हित में हो, उसके लिए शुल्क लिया जाय यह तो उल्टी बात है। कल्पना करें कि कल को शिक्षा शुल्क का बहिष्कार करके अथवा उसे देने में असमर्थ होने के कारण बच्चे पढ़ना बन्द कर दें। क्या समाज इस स्थिति को सहन करेगा? पेड़ लगाने और सींचने के लिए हम पेड़ से पैसा नहीं लेते। हम तो अपनी ओर से पूंजी लगाते हैं और जानते हैं कि पेड़ के फलने पर हमें फल मिलेंगे ही। शिक्षा भी इसी प्रकार का विनियोजन है। व्यक्ति शिक्षित होने पर समाज के लिए काम करेगा ही। किन्तु जो व्यवस्था बचपन से ही हमें व्यक्तिवादी बनाती हो, उसमें

समाज की अवहेलना करने वाले निकलें तो आश्चर्य ही क्या? भारत में १९४७ से पूर्व सभी देशी राज्यों में कहीं भी शिक्षा का शुल्क नहीं लिया जाता था। उच्चतम श्रेणी तक शिक्षा निःशुल्क थी। गुरुकुलों में तो भोजन व रहने की व्यवस्था भी आश्रम में होती थी। केवल भिक्षा माँगने के लिए ब्रह्मचारी समाज में जाता था। कोई भी गृहस्थ ब्रह्मचारी को खाली नहीं लौटाता था, अर्थात् समाज द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी।

चिकित्सा निश्शुल्क

इसी भाँति चिकित्सा के लिए पैसा देना पड़े, यह अचम्भे की बात है। चिकित्सा भी निश्शुल्क होनी चाहिए। हमारे यहाँ पहले चिकित्सा के लिए भी पैसा नहीं लिया जाता था। आजकल मन्दिर में जाने के लिए भी पैसा देना पड़ता है। तिरुपति में बालाजी के मन्दिर में दर्शन के लिए ४ आने का टिकट लेना पड़ता है। पर दोपहर में १२ बजे से २ बजे तक 'धर्मदर्शन' होता है, अर्थात् उस समय टिकट नहीं लेना पड़ता। मानो पैसा देकर दर्शन करना अधर्मदर्शन होता है। कहने का तात्पर्य है कि समाज की ओर से जीवनयापन और विकास के लिए न्यूनतम की गारण्टी होनी ही चाहिए।

'न्यूनतम' का जन्मसिद्ध अधिकार

अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'न्यूनतम' जो सभी को देना है, वह आएगा कहाँ से? स्पष्ट है कि वह हमारे प्रयत्नों व पुरुषार्थ से ही आना चाहिए। अतः जहाँ हमें अधिकार के रूप में 'न्यूनतम स्तर' मिला है, वहाँ अनुत्पादक कर्म अर्थात् पुरुषार्थविहीन व्यक्ति समाज पर भार है। इसी प्रकार जो समाज-व्यवस्था अथवा अर्थव्यवस्था लोगों के पुरुषार्थ में बाधक हो, वह आत्मघाती है। ऐसी व्यवस्था में समाज व्यक्तियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाएगा। यदि व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ण होती रही तो भी पुरुषार्थ न करने के कारण उनका विकास एकांगी रह जायेगा। मानव को पेट और हाथ दोनों मिले हैं। यदि हाथों को काम न

मिले और पेट को खाना मिलता रहे तो भी मनुष्य सुखी नहीं रहेगा। उसका विकास नहीं होगा। निस्सन्तान स्त्री जैसे अपने जीवन में अधूरापन तथा व्यथा का अनुभव करती है, वैसे ही बेकार पुरुषार्थरहित व्यक्ति अधूरा है।

प्रत्येक को काम

'प्रत्येक को काम' अर्थव्यवस्था का आधारभूत लक्ष्य होना चाहिए। अर्थात् स्वस्थ और सवय व्यक्ति के लिए अपनी गृहस्थाश्रम की आयु में जीविकोपार्जन की व्यवस्था होनी ही चाहिए। आज तो कुछ विचित्र ही स्थिति है। एक ओर तो १० वर्ष का बालक और ७० वर्ष का बूढ़ा काम में जुता हुआ है तो दूसरी ओर २५ वर्ष का नौजवान बेकारी से ऊबकर आत्महत्या कर बैठता है। इस अव्यवस्था को दूर करना होगा। भगवान ने हाथ तो दिये हैं परन्तु वे स्वतः उत्पादक नहीं बन सकते। उनके लिए पूँजी का सहयोग चाहिए। श्रम और पूँजी का सम्बन्ध पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध है। सृष्टि इन दोनों की लीला है। इनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

पूँजी का निर्माण

पूँजी निर्माण के लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण उत्पादन का उपभोग करने के स्थान पर उसमें से कुछ बचाया जाय और उसे भावी उत्पादन के लिए काम में लिया जाए। उपभोग में संयम के बिना पूँजी नहीं बनेगी। कार्लमार्क्स जिस 'अतिरिक्त मूल्य' की चर्चा करता है, वही पूँजी निर्माण का आधार है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उद्योगपति इस अतिरिक्त मूल्य के सहारे पूँजी निर्माण करता है। समाजवादी व्यवस्था में यह काम राज्य के द्वारा होता है। दोनों ही पद्धतियों में सम्पूर्ण उत्पादन का वितरण श्रमिकों में नहीं होता। यदि उत्पादन की पद्धति 'बड़े पैमाने' की ओर 'केन्द्रित' रही तो पूँजी-निर्माण के लिए श्रमिक के द्वारा किये गये संयम और त्याग का भी भान नहीं होता। विकेन्द्रीकरण में यह लाभ है कि पूँजी

के रूप में इस 'अतिरिक्त मूल्य' के प्रयोग में श्रमिक का भी हाथ रह सकता है।

मशीन का प्रभुत्व

मशीन पूँजी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वरूप है। मानव के श्रम को सुखकर बनाने तथा उसकी उत्पादकता एवं क्षमता को बढ़ाने के लिए ही यन्त्र का आविष्कार हुआ है। यन्त्र मानव का सहायक है, मानव का प्रतिस्पर्धी नहीं। किन्तु जहाँ मानव-श्रम को एक विनिमय की वस्तु समझ कर उसका मूल्यांकन रुपयों में होने लगा, वहाँ मशीन मानव की प्रतिस्पर्धी बन गई। यह पूँजीवादी दृष्टिकोण का दुर्गुण है। यदि मशीन मानव का स्थान लेकर उसे भूखा मारे, तो वह उन उद्देश्यों के विपरीत होगा जिनकी सिद्धि के लिए यन्त्र का आविष्कार हुआ। जड़ मशीन इसके लिए दोषी नहीं। यह बुराई उस अर्थव्यवस्था की है जिसमें विवेक लुप्त हो जाता है। हमें मशीन की मर्यादाओं का विचार करके ही उसकी उपयुक्तता का निर्धारण करना होगा। इस दृष्टि से पश्चिम की उन मशीनों का, जो वहाँ जनसंख्या की कमी के आधार पर बनी हैं, बिना विचारे आयात करना भारी भूल होगी। मशीन देशकाल परिस्थिति निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है। विज्ञान की आधुनिकतम प्रगति की वह उपज है, किन्तु प्रतिनिधि नहीं। ज्ञान किसी देश-विदेश की बपौती नहीं, किन्तु उसका प्रयोग प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार करता है। हमारी मशीन हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही चाहिये। वह हमारे सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन मूल्यों की पोषक नहीं तो कम से कम अविरोधी अवश्य होनी चाहिए।

सात मकार

प्रो० विश्वेश्वरैया ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि आर्थिक दृष्टि से उत्पादन प्रणाली का विचार करते समय हमें सात मकारों का विचार करना चाहिए। ये सात मकार हैं : (१) मैन, (३) मैटीरियल, (२) मनी

(४) मोटिव पावर, (५) मैनेजमेण्ट, (६) मार्केट और (७) मशीन

अर्थात् (१) काम करने वाले या जिनको काम मिलना चाहिए—उन व्यक्तियों की संख्या, योग्यता तथा तन्त्रज्ञता का विचार करना चाहिए। (२) उपलब्ध अथवा जिनकी उपलब्धि सम्भव है, ऐसे प्रकृति के साधनों का, कच्चे माल का, विचार करना होगा। (३) हमें यह भी देखना होगा कि हमारे पास कितनी पूँजी है। उस पूँजी को कितनी मात्रा में और किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है। उस पूँजी को अधिकतम लाभ के लिए अच्छे-से-अच्छे किस रूप में लगाया जा सकता है। पूँजी का कितना भाग स्थायी पूँजी में लगाया जा सकता है और कितना सामान्य काम चलाने के लिए हाथ में रखना आवश्यक है। (४) हमें अपने देश की शक्ति का भी विचार करना होगा। मानव और पशुश्रम के अतिरिक्त हवा, पानी, भाप, तेल, गैस, बिजली एवं अणुशक्ति सभी से मशीनें चल सकती हैं। इनमें कौन-सी शक्ति कितनी मात्रा में उपलब्ध हो सकती है और हमें अनार्थिक नहीं होगी, इसका विचार करके ही उत्पादन पद्धति का निर्धारण करना होगा। (५) इसी प्रकार प्रबन्धकुशलता का विचार अत्यन्त आवश्यक है। दस लोगों को एक साथ लगाकर उनकी ठीक ढंग से योजना करना नहीं आया तो सब बेकार रहेगा। (६) हम जो कुछ पैदा करते हैं वह लोगों के उपयोग में आ सके, इसका भी विचार करना होगा। अर्थात् बाजार का विचार किये बिना किसी भी वस्तु का उत्पादन आर्थिक दृष्टि से समर्थनीय नहीं हो सकता। (७) इन सब बातों का विचार करके हमें उपयुक्त मशीन का निर्माण करना चाहिए। किन्तु होता यह है कि हम पहले 'मशीन' का खूँटा गाड़ देते हैं और फिर सभी वस्तुओं का सामंजस्य उसके साथ बिठाते हैं। किन्तु दुनिया के दूसरे देशों में ऐसा नहीं हुआ, अन्यथा नई-नई मशीनें नहीं बनतीं। वास्तव में जो विज्ञान की प्रगति का लक्षण है उसे स्थिर मानकर चलना एक अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। हम मशीन बाहर से मंगाते हैं, इसलिए इस विषय में हमारे यहां लचीलापन बहुत कम है। हमें भारतीय प्रौद्योगिकी का विकास करना होगा।

उपर्युक्त सातों उपादानों में से कोई भी अपरिवर्तनीय नहीं। वास्तव

में प्रत्येक नित्य बदलता रहता है। यह परिवर्तन विकास की दिशा में हो। उसमें कष्ट तथा विद्यमान शक्ति का छीजन कम-से-कम हो तथा उसके द्वारा हम अपने समाज के दायित्वों का निर्वाह कर सकें, इस बात का विचार नियोजकों को करना होगा। एक उदाहरण लें। हमारे यहाँ श्रमिक की उत्पादकता बहुत कम है। यन्त्र के सहारे वह बढ़ाई जा सकती है। बढ़ाना आवश्यक ही है। किन्तु यन्त्र ऐसा रहा कि जिसको चलाने के लिए बहुत कम आदमियों की जरूरत पड़े और शेष व्यक्ति बेकार हो जाएँ अथवा इन यन्त्रों को बाहर से मँगवाने का खर्चा ही इतना अधिक हो कि उसका भुगतान करने में ही बढ़ी हुई उत्पादकता अधूरी पड़े तो कहना होगा कि वह यन्त्र ठीक नहीं है। जैसे किसी कारखाने की पूरी क्षमता का उपयोग न कर पाना आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं, वैसे ही देश के लोगों को बेकार रखना घाटे का सौदा है। यहाँ तो दुहरा घाटा है। खाली मशीन केवल पुरानी पूँजी खाती है, नया कुछ नहीं, पर बेकार मनुष्य तो आज भी खाता है। **अतः आज तो "कमाने वाला खाएगा" के स्थान पर "खाने वाला कमाएगा" यह लक्ष्य रखकर हमें भारत की अर्थरचना करनी होगी।** चर्खे की जगह कताई की मशीनें तो चाहिएँ, परन्तु सब कामों के लिए स्वचालित मशीनें नहीं। पूर्ण रोजगार का लक्ष्य सामने रखकर ही हमें अन्य छः उपादानों का विचार करना चाहिए।

अर्थ-रचना में व्यक्ति

व्यक्ति के उपयोग अथवा उसके रोजगार का विचार करते समय हमें पूर्ण एकात्म मानव का सदैव विचार रखना होगा। पिछली शताब्दियों के आर्थिक चिंतन और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था का यह परिणाम हुआ है कि हाड़-मांस का वास्तविक मानव हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। हम उसके व्यक्तित्व का तनिक भी विचार नहीं करते। पूँजीवादी अर्थ-शास्त्र मनुष्य को एक अर्थलोलुप प्राणी मानकर चलता है। उसके सभी निर्णय आर्थिक दृष्टिकोण से होते हैं। ऐसे व्यक्ति के सामने पाँच रुपये सदैव चार रुपयों से अधिक होते हैं। वह अर्थोत्पादन की प्रेरणा से ही काम

करता है। ज्यादा-से-ज्यादा लाभ उसका लक्ष्य है। जैसे बाजार में बाकी चीजें खरीदी-बेची जाती हैं, वैसे ही मानवश्रम क्रय-विक्रय की वस्तु है। यह फ्री एण्टरप्राइज की व्यवस्था है। प्रतिस्पर्द्धा के ब्रेक को छोड़कर वह किसी दूसरे नियन्त्रण को अन्याय मानता है। इस दौड़ में जो सबसे पीछे रह गया, उसे साथ लेकर चलने का विचार करने के लिए वह तैयार नहीं, प्रत्युत उसके विनाश को वह न्याय मानता है। वह अनार्थिक है, उसे नष्ट होना चाहिए, यह उसकी धारणा है। उसके विनाश से धीरे-धीरे शक्ति सिमटकर कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इसको पूँजीवादी अर्थशास्त्र स्वाभाविक प्रक्रिया मानता है। किन्तु एकाधिकार होने के बाद प्रतिस्पर्द्धा की ब्रेक भी काम नहीं करती। उस स्थिति में प्रतिस्पर्द्धा के कारण उत्पन्न होने वाली प्रेरणा नष्ट हो जाती है। मूल्य मनमाने हो जाते हैं तथा गुण की दृष्टि से ह्रास होने लगता है।

उपभोक्ता के नाते भी इस अर्थशास्त्री की दृष्टि मानव की आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं की ओर नहीं, अपितु उसकी जेब पर अर्थात् क्रय-शक्ति पर रहती है। भूखे और निर्धन की अपेक्षा पेट भरे और सम्पन्न की ही वहाँ चिन्ता की जाती है। फलतः जहाँ सम्पन्न की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नानाविध वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, वहाँ साधन-हीन के लिए जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं का भी अभाव बढ़ जाता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में विकास नहीं

उत्पादन केन्द्रीयकरण एवं एकाधिपत्य के कारण उपभोक्ता धीरे-धीरे प्रभावहीन हो जाता है। बाजारों का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि उसमें 'रामप्रसाद' के पैर के नम्बर का जूता मिलेगा। सभी क्षेत्रों में यह वर्गीकरण इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व नष्ट होकर वह एक नम्बर बनता जा रहा है। ड्यूई दशमलव प्रणाली[1] के अनुसार जैसे पुस्तकों का वर्गीकरण कर उसे एक निश्चित नम्बर दिया

१. पुस्तकालयों में पुस्तकों को व्यवस्थित रखने की एक पद्धति।

जाता है, वैसे ही मानव को भी दिया जा सकता है। व्यक्ति को ही सब कुछ मानने वाली अर्थव्यवस्था ने व्यक्ति को बिलकुल ही समाप्त कर दिया है। स्पष्टतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था 'मानव' का विकास करने में असमर्थ सिद्ध हुई है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था प्रतिक्रियावादी

पूँजीवाद के विरोध में समाजवादी अर्थव्यवस्था आई। किन्तु वह भी मानव को उसकी प्रतिष्ठा नहीं दे पाई। उसने पूँजी का स्वामित्व राज्य के हाथ में देकर सन्तोष कर लिया।

किन्तु 'राज्य' तो अत्यधिक व्यक्ति-निरपेक्ष संस्था है। वहाँ का हर काम विधि-विधान और नियमों के अधीन चलता है। वहाँ सामान्यतः स्वविवेक के लिए स्थान नहीं। यदि कहीं शासनाधिकारियों में अत्युच्च कर्त्तव्यभाव एवं समाजनिष्ठा न रही तो पक्षपात और भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिलता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने तो केवल अर्थपरायण मानव का विचार किया तथा अन्य क्षेत्रों में उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया। अतः वह कुछ मात्रा में अपने व्यक्ति का विकास कर सका। किन्तु समाजवादी व्यवस्था तो मात्र जातिवाचक मानव का ही विचार करती है। उसमें व्यक्ति की रुचि, प्रकृति एवं गुणों की विविधता एवं उसके आधार पर विकास के लिए कोई स्थान नहीं।

जिस प्रकार जेल मेन्यूअल में मानव का विचार कर उसकी आवश्यकताओं की चिन्ता की गयी है तथा उसके कार्यों का विधान किया गया है, इसी प्रकार समाजवादी व्यवस्था में मानव का विचार अत्यन्त ही व्यक्ति निरपेक्षता के आधार पर किया गया है। वहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नाम की कोई चीज नहीं है।

व्यक्ति पर राज्य हावी

समाजवादी व्यवस्था में निजी सम्पत्ति नहीं है। अतः सम्पत्ति के निजी स्वामित्व से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से वह मुक्त है। किन्तु सम्पत्ति

से तथा उसके अर्जन की एषणा से जो व्यक्तित्व का विकास और पुरुषार्थ की प्रेरणा मिलती है, उसकी वहाँ कोई समाधानकारक व्यवस्था नहीं की गई। राज्य को सर्वेसर्वा बना दिया गया है। व्यक्ति इस भीमकाय मशीन का पुर्जा मात्र रह गया है। यह पुर्जा ठीक-ठीक काम करे, इसके लिए किसी अन्तःप्रेरणा का विचार नहीं हुआ। डिजीलस (Djilas) के अनुसार शोषकों का पुराना वर्ग तो समाप्त हो चला है, किन्तु नौकरशाही का नया शोषक वर्ग उत्पन्न हो रहा है। कार्लमार्क्स ने इतिहास का जो विश्लेषण किया, उसमें कम्युनिज्म को पूँजीवाद की स्वाभाविक परिणति बताया है। पूँजीवाद में ही पूँजीवाद के विनाश के बीज छिपे हुए हैं यह उसका विधान है।

यह कल्पना साम्यवादी कार्यकर्ताओं को अपनी अन्तिम विजय का विश्वास दिलाने के लिए चाहे लाभप्रद प्रतीत हो, किन्तु इससे मानव की सुधारवादी एवं क्रान्तिकारी प्रेरणा नष्ट हो जाती है। वह युग का निर्माता नहीं अथवा क्रान्ति का स्रष्टा नहीं, जो कुछ पूर्व निश्चित है उसका निमित्त मात्र है। उसका काम तो विधि के विधान में तेजी लाना है। इसलिए वह मजदूरों का संगठन करके भी उनके हित की चिन्ता नहीं करता, बल्कि उन्हें साधन के रूप में ही प्रयोग करता है। कार्लमार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विधान भी तब तक काम करता है, जब तक पूँजीवाद के स्थान पर सर्वहारा के अधिनायक के रूप में राज्य सर्वेसर्वा नहीं बन जाता। इसके बाद राज्य इस नियम को काम में नहीं आने देता। प्रतिक्रान्ति को रोकने के नाम पर राज्य अधिकाधिक निरंकुश बनता जाता है तथा वह दिन, जब राज्य समाप्त होकर राज्यविहीन समाज-व्यवस्था जन्म लेगी, एक कल्पना मात्र रह जाता है। वास्तव में क्रिया, प्रतिक्रिया और संक्रिया की प्रक्रिया को रोकना ही मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार एक प्रतिगामी एवं प्रगति-विरोधी कार्य है। मार्क्स अपने ही दर्शन को झुठलाता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में मानव के सही एवं पूर्ण रूप को नहीं समझा गया। एक में उसे स्वार्थी, अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मात्स्यन्याय-प्रवण प्राणी माना गया है, तो दूसरी में व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का दास, अकिंचन एवं

अनास्थामय माना गया है। शक्तियों का केन्द्रीकरण दोनों में अभिप्रेत है। फलतः दोनों का परिणाम अमानवीकरण में हो रहा है।

मानव का उत्कर्ष और सुख चाहिए

भगवान की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव अपने को खोता जा रहा है। हमें मानव को पुनः अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा, उसकी गरिमा का उसे ज्ञान कराना होगा, उसकी शक्तियों को जगाना होगा तथा उसे देवत्व की प्राप्ति के हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा। यह विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के द्वारा ही सम्भव है।

हमें समाजवाद अथवा पूँजीवाद नहीं, 'मानव' का उत्कर्ष और सुख चाहिए।

'मानव' को दाँव पर लगाकर आज दोनों लड़ रहे हैं। दोनों ने न तो मानव को समझा है और न उन्हें मानव की चिन्ता है।

हमारी अर्थ-व्यवस्था

अतः हमारी अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिए—

(१) प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र की सुरक्षा सामर्थ्य की व्यवस्था।

(२) इस स्तर के उपरान्त उत्तरोत्तर समृद्धि, जिससे व्यक्ति और राष्ट्र को वे साधन उपलब्ध हो सकें जिनसे वह अपनी चिति के आधार पर विश्व की प्रगति में योगदान कर सके।

(३) उपर्युक्त लक्ष्यों की सिद्धि के लिए प्रत्येक सवय एवं स्वस्थ व्यक्ति को साभिप्राय रोजगार का अवसर देना तथा प्रकृति के साधनों को मितव्ययिता के साथ उपयोग करना।

(४) राष्ट्र के उत्पादक उपादानों[1] का विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।

---

१. सात मकार।

(५) यह व्यवस्था 'मानव' की अवहेलना न कर उसके विकास में साधक हो तथा समाज के सांस्कृतिक एवं अन्य जीवन-मूल्यों की रक्षा करे। यह लक्ष्मण रेखा है जिसका अतिक्रमण अर्थ-रचना किसी भी परिस्थिति में नहीं कर सकती।

(६) विभिन्न उद्योगों आदि में राज्य, व्यक्ति तथा अन्य संस्थाओं के स्वामित्व का निर्णय व्यावहारिक आधार पर हो।

यह कुछ मोटी-मोटी बातें हैं जिनका विचार कर हमें अर्थ-रचना करनी होगी। आज की परिस्थिति में यदि किन्हीं दो शब्दों का प्रयोग कर अपनी अर्थव्यवस्था की दिशा के परिवर्तन को बताना हो तो वे हैं **'विकेन्द्रीकरण'** और **'स्वदेशी'**। हम आज जो रचना कर रहे हैं उसमें 'केन्द्रीकरण' जाने अथवा अनजाने में हमारी श्रद्धा का विषय बन गया है। केन्द्रीकरण ही आर्थिक है, यह हमारी मान्यता बन गयी है और इसलिए उसके दुष्परिणाम की चिन्ता न करते हुए अथवा जानकर भी विवशता से हम उसी ओर बढ़ रहे हैं। यही हाल 'स्वदेशी' का है। स्वदेशी की कल्पना बीते युग की तथा प्रतिगामीपन की द्योतक समझी जाती है। विदेशों की हर वस्तु हम बड़े चाव से ले रहे हैं। विचार, व्यवस्था, पद्धति, पूँजी, उत्पादन-प्रणाली, प्रौद्योगिकी तथा उपभोग के मानदण्ड सभी क्षेत्रों में हम विदेशों पर निर्भर हैं। यह प्रगति का रास्ता नहीं। इससे विकास नहीं होगा। हम अपने 'स्व' को विस्मृत कर परतन्त्र हो जायेंगे। 'स्वदेशी' के भावात्मक रूप को समझ कर हमें उसके सृजन का आधार एवं अवलम्ब बनाना चाहिए।

नव-निर्माण

समयाभाव के कारण मैंने अर्थव्यवस्था के संस्थागत पहलुओं की चर्चा नहीं की है। किन्तु यह स्पष्ट है कि अनेक पुरानी संस्थायें बदलेंगी और नई जन्म लेंगी। इस परिवर्तन के कारण जिनका पुरानी संस्थाओं में निहित स्वार्थ है, उन्हें धक्का लगेगा। कुछ लोग जो प्रकृति से ही अपरिवर्तनवादी हैं, उन्हें भी सुधार और सृजन के इन प्रयत्नों में कुछ कष्ट होगा। किन्तु बिना औषधि के रोग ठीक नहीं होता और व्यायाम के कष्ट उठाये बिना,

बल भी नहीं आता। अतः हमें यथास्थिति का मोह त्याग कर नव-निर्माण करना होगा। हमारी रचना में प्राचीन के प्रति अश्रद्धा एवं अवज्ञा का भाव अवश्य ही नहीं होना चाहिए, किन्तु उससे चिपटे रहने की भी आवश्यकता नहीं। परिवर्तन की दिशा कौन-सी होगी, इसका हमने ऊपर विचार किया है।

हमने 'मानव्य' के समग्र एवं संकलित रूप का थोड़ा विचार किया है। इस आधार पर हम चलें तो हम भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के साथ राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र, समता और विश्व-एकता के आदर्शों को एक समन्वित रूप में रख सकेंगे। इनके बीच का विरोध नष्ट होकर वे परस्पर पूरक होंगे। मानव अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा।

व्यावहारिक प्रयत्न करना होगा

हमने यहाँ तात्विक विवेचन किया है। किन्तु भारतीय जनसंघ के कार्यकर्ता मात्र दर्शनशास्त्री एवं Academecian नहीं। हम तो भारतीय जनसंघ के माध्यम से राष्ट्र को सबल, समृद्ध और सुखी बनाने का संकल्प लेकर चले हैं। अतः इस अधिष्ठान पर हमें राष्ट्र रचना का व्यावहारिक प्रयत्न करना होगा। हमने अपनी प्राचीन संस्कृति का भी विचार किया है। किन्तु हम कोई पुरातत्ववेत्ता नहीं हैं। हम किसी पुरातत्व संग्रहालय के संरक्षक बनकर नहीं बैठना चाहते। हमारा ध्येय संस्कृति का संरक्षण नहीं अपितु उसे गति देकर सजीव व सक्षम बनाना है। उसके आधार पर राष्ट्र की धारणा हो और हमारा समाज स्वस्थ एवं विकासोन्मुख जीवन व्यतीत कर सके, इसकी व्यवस्था करनी है। इस दृष्टि से हमें अनेक रूढ़ियाँ खत्म करनी होंगी, बहुत से सुधार करने होंगे। जो हमारे मानव्य का विकास और राष्ट्र की एकात्मता की वृद्धि में पोषक हो, वह हम करेंगे और जो बाधक हो उसे हटायेंगे। ईश्वर ने जैसा शरीर दिया है उसमें मीन-मेख निकालकर अथवा आत्मग्लानि लेकर चलने की आवश्यकता नहीं है। पर शरीर में फोड़ा होने पर उसका ऑपरेशन तो आवश्यक है। सजीव और स्वस्थ अंगों

को काटने की जरूरत नहीं है। आज यदि समाज में छुआछूत और भेदभाव घर कर गये हैं, जिसके कारण लोग मानव को मानव समझकर नहीं चलते और जो राष्ट्र की एकता के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं तो हम उनको खत्म करेंगे।

हमें उन संस्थाओं का निर्माण करना होगा जो हमारे अन्दर कर्मचेतना पैदा करें; हमें स्व-केन्द्रित एवं स्वार्थी बनाने के स्थान पर राष्ट्रसेवी बनावें, अपने बन्धुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण ही नहीं उनके प्रति आत्मीयता और प्रेम पैदा करें। इस प्रकार की संस्थायें ही वास्तव में हमारी चिति का आविष्कार कर सकेंगी।

हम 'विराट्' जाग्रत करें

जैसे राष्ट्र का आधार चिति होती है, वैसे ही जिस शक्ति से राष्ट्र की धारणा होती है उसे 'विराट' कहते हैं। 'विराट' राष्ट्र की वह कर्मशक्ति है जो चिति से जाग्रत एवं संगठित होती है। विराट का राष्ट्र-जीवन में वही स्थान है जो शरीर में प्राण का है। प्राण से ही सभी इन्द्रियों को शक्ति मिलती है, बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होता है और आत्मा शरीरस्थ रहता है। राष्ट्र में भी विराट् के सबल होने पर ही उसके भिन्न-भिन्न अवयव अर्थात् संस्थाएँ सक्षम और समर्थ होती हैं। अन्यथा संस्थागत व्यवस्था केवल दिखावा मात्र रह जाते हैं। विराट् के आधार पर ही प्रजातन्त्र सफल होता है और राज्य बलशाली बनता है। इसी अवस्था से राष्ट्र की विविधता उसकी एकता के लिए बाधक नहीं होती। भाषा, व्यवसाय आदि भेद तो सभी जगह होते हैं। किन्तु जहाँ विराट् जाग्रत रहता है, वहाँ संघर्ष नहीं होते। सब लोग शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की भाँति या कुटुम्ब के घटकों के समान परस्पर पूरकता से काम करते रहते हैं।

हमने अपने राष्ट्र के विराट् को जाग्रत करने का काम करना है। अपने प्राचीन के प्रति गौरव का भाव लेकर, वर्तमान का यथार्थवादी आकलन कर और भविष्य की महत्वाकांक्षा लेकर हम इस कार्य में जुट जायें। हम भारत को न तो किसी पुराने जमाने की प्रतिच्छाया बनाना चाहते हैं और

न रूस या अमरीका की तस्वीर।

विश्व का ज्ञान और आज तक की अपनी सम्पूर्ण परम्परा के आधार पर हम ऐसा भारत निर्माण करेंगे जो हमारे पूर्वजों के भारत से अधिक गौरवशाली होगा। जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानव ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर 'नर से नारायण' बनने में समर्थ हो सकेगा। यह हमारी संस्कृति का शाश्वत, दैवी और प्रवाहमान रूप है। चौराहे पर खड़े विश्व-मानव के लिए यही हमारा दिग्दर्शन है। भगवान हमें शक्ति दे कि हम इस कार्य में सफल हों, यही प्रार्थना है।

(२५ अप्रैल, १९६५)